संदर्भ

शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
अंक-40, अक्टूबर 2001-जनवरी 2002

संपादन एवं वितरण:
एकलव्य, कोठी बाज़ार
होशंगाबाद – 461 001
फोन: 07574 – 53518
ई-मेल: eklavyamp@vsnl.com
eklavyah@yahoo.com

एक प्रति: 15 रुपए
वार्षिक सदस्यता (6 अंक) : 75 रुपए
आजीवन सदस्यता: व्यक्तिगत 1000 रुपए
संस्थागत 2000 रुपए
(ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं)

मुखपृष्ठ: मधुमालती हमारे आसपास आसानी से दिखाई देने वाली बेल है। इसके लंबे नलीदार फूलों को देखकर यह सवाल स्वाभाविक है कि इन नलियों के तले में मौजूद मकरंद का क्या फायदा, कौन पहुंच पाता होगा वहां तक? जी हां, अपने ही आसपास है ऐसा कीट – हॉक पतिंगा जो अपनी लंबी सूंड (प्रोबोसिस) के सहारे फूल से मकरंद भी पा लेता है और इसी के साथ-साथ परागण भी कर देता है। क्या आप अंदाज़ा लगा सकते हैं कितनी लंबी है यह सूंड . . .? सिर्फ 9.5 सेंटीमीटर लंबी!! इस पतिंगे और मधुमालती के फूलों के संबंध पर विस्तृत लेख पृष्ठ 9 पर। ***फोटो – के. आर. शर्मा।***

पिछला कवर: दोलन करती बी-ज़ेड रासायनिक क्रियाओं की प्रगति को रंगों के दोलन के मार्फत देखा जा सकता है। तश्तरी में तैयार रसायनों में फेरोइन सूचक मिलाने के कुछ देर बाद तश्तरी में लाल, गाढ़ा लाल, नीला, गाढ़ा नीला और फिर से लाल रंग दिखाई देने लगते हैं। रंगों का लुत्फ उठाने से संबंधित लेख देखिए पृष्ठ 15 पर।

इस अंक में निम्न किताबों से चित्र लिए गए हैं: ***बायोलॉजी – द नेटवर्क ऑफ लाइफ:*** *माइकल सी. मिक्स, पॉल फार्बर, कीथ आई. किंग; प्रकाशक: हारपर कोलिंस कॉलेज पब्लिशर्स।* ***द हेमलिन हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड इन कलर वॉल्यूम 6;*** *द वर्ल्ड ऑफ द मिडिल एजेस: माइकेल एनगोल्ड, बैरी डोबसन; प्रकाशक: पॉल हेमलिन।* ***द फिज़िकल लैंडस्केप इन पिक्चर:*** *ए. वी. हार्डी, एफ. जे. मोंकहाउस, प्रकाशक: केंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।* ***मॉउंटेन्स:*** *फ्रांसिस स्मिथ; प्रकाशक: फ्रेंकलिन वाट्स लदन एव न्यूयॉर्क।* ***ग्रेट बुक ऑफ बर्ड्स;*** *प्रकाशक: आर्च केप प्रेस न्यूयॉर्क।* ***एनीमल कम्यूनिकेशन:*** *पॉल शोएनबर्ग; प्रकाशक: ब्रुक बुक्स।*

मानव संसाधन विकास मंत्रालय की एक परियोजना के तहत प्रकाशित

क्या पढ़ना छठी इंद्रीय है?

विज्ञान एवं शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका

एक प्रति 15 रुपए

सालाना शुल्क 75 रुपए

प्रयोगशाला में हमारा पाला कई सारी रासायनिक क्रियाओं से पड़ता है। कुछ क्रियाएं तो पलक झपकते ही पूरी हो जाती हैं तो कुछ रासायनिक क्रियाओं में अच्छा-खासा समय लग जाता है। इस लेख में जिस रासायनिक क्रिया की बात की गई है उसे पूरा होने में काफी समय लगता है – क्योंकि उसमें दोलन होते रहते हैं; यानी वह दो कदम आगे जाती है तो एक कदम पीछे हटती है। परन्तु ऐसा करते हुए भी आखिरकार वह क्रिया पूरी हो ही जाती है।

इस रासायनिक क्रिया के दोलनों को विलयन के रंगों में बदलाव के मार्फत देखा व समझा जा सकता है। सामान्य प्रयोगशाला की मदद लेते हुए आप भी खुद प्रयोग करके इनमें उभरने वाले रंगों की छटाओं का मज़ा ले सकते हैं।

विज्ञान संबंधी अध्ययनों में पक्षियों का अवलोकन काफी अहम स्थान रखता है। भारतीय महाद्वीप पर ही पक्षियों की लगभग 1237 प्रजातियां पाई जाती हैं। प्रोजेक्ट लाइफ-स्केप में ऐसी ही कई प्रजातियों के अध्ययन की योजना है।

इस लेख में यह बताने की कोशिश की गई है कि प्रकृति का अवलोकन करके बहुत-सी बातों को खुद से ही सीखा जा सकता है। लेखक ने कौओं के रंग-रूप, निवास, आबादी, आदतों, सामुदायिकता, उड़ानों आदि के उदाहरण लेते हुए यह उजागर करने की कोशिश की है कि उनसे जुड़े हुए ऐसे बहुत से रोचक व महत्वपूर्ण सवाल हैं जिनके उत्तर खोजने में हमारी भी भूमिका हो सकती है।
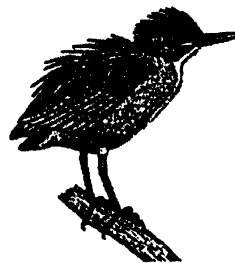
शैक्षिक संदर्भ

अंक 40
अक्टूबर 2001 - जनवरी 2002

इस अंक में

तकनीकों के इतिहास को देखें तो समझ में आता है कि कई बार श्रम शक्ति के अभाव की वजह से तकनीकी सुधारों की पृष्ठभूमि तैयार होती है। फिर जब तकनीक अपने समग्र रूप में सामने आती है तो राज्य न केवल उसे प्रोत्साहन देता है बल्कि उसका इस्तेमाल अपने हितों को साधने के लिए करने लगता है। पनचक्की के उद्गम और विकास में ये बातें स्पष्टतः दिखती हैं। लेकिन यह जानना भी उतना ही रोचक है कि कोई तकनीक तत्कालीन समाज में किस तरह फैलती है या किन संघर्षों से होकर गुज़रती है.... इन सब बातों का अध्ययन ही तकनीकों के इतिहास को समग्र बनाता है। ऐसे अध्ययन से तकनीकों के संदर्भ में तत्कालीन समाज के नज़रिए का भी पता चलता है।

संदर्भ से नाता जोड़िए

आजीवन सदस्यता

संदर्भ से बने रिश्ते को और स्थायित्व देने का एक सुनहरा मौका है – संदर्भ के आजीवन सदस्य बनकर।

* संदर्भ की आजीवन सदस्यता राशि **1000 रुपए** (व्यक्तिगत), **2000 रुपए** (संस्थागत) है। **अगली उपहार योजना** का लाभ लेने के लिए आपको यह राशि **31 मार्च 2002** से पहले भेजनी होगी।

* यह राशि आप एकलव्य के नाम बैंक ड्राफ्ट बनवाकर या चैक से भेज सकते हैं।

* आपकी राशि हमारे पास बतौर धरोहर जमा रहेगी। जब तक संदर्भ पत्रिका का प्रकाशन जारी रहेगा, संदर्भ पत्रिका आपको नियमित रूप से मिलती रहेगी।
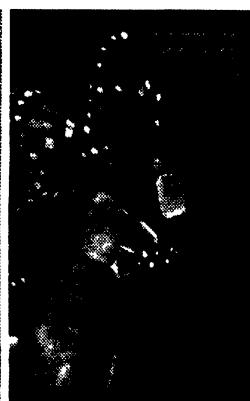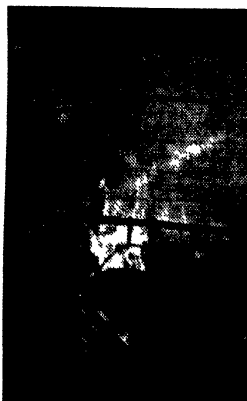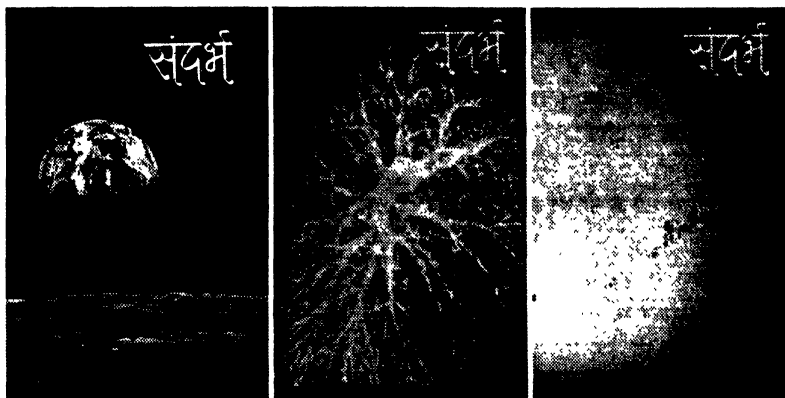
* संदर्भ का प्रकाशन अगले दस वर्ष में किसी भी कारण बंद होने की स्थिति में आपको बकाया राशि वापस लौटा दी जाएगी।

* यदि आजीवन सदस्यता लेने के बाद कभी भी आपको ऐसा लगता है कि संदर्भ आपके लिए पहले की तरह उपयोगी नहीं रही है तो आप बकाया राशि तीन साल के बाद कभी भी वापस ले सकते हैं।

आपके लिए उपहार :

यदि आप **31 मार्च 2002** से पहले आजीवन सदस्यता लेते हैं तो आपको संदर्भ के **सजिल्द संस्करण** खंड 4, 5 और 6 बतौर उपहार भेजे जाएंगे। यानी आपके पास होंगे संदर्भ के पूर्व प्रकाशित अंक भी। **यह उपहार योजना केवल 31 मार्च 2002 तक के लिए है।**

* और अधिक जानकारी के लिए इस पते पर संपर्क कीजिए।

एकलव्य
कोठी बाज़ार, होशंगाबाद म. प्र.
पिन: 461001, फोन: 07574 - 53518,
ईमेल: eklavyah@yahoo.com या eklavyamp@vsnl.com
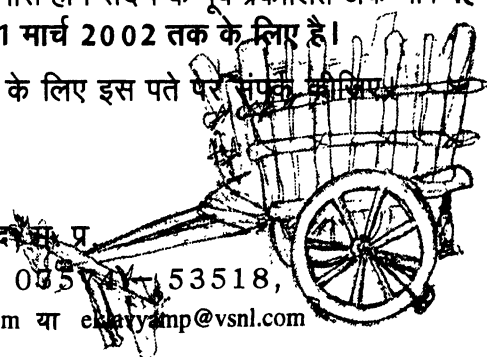
आपने लिखा

मैंने संदर्भ के अंक 39 में प्रकाशित लेख चुंबकत्व और विद्युत दो जुड़वां भाई पढ़ा। इस लेख में काफी नई जानकारियां मिलीं। खासतौर पर यह कि सभी पदार्थ परमाणुओं से बने हैं तो भी सभी चुंबकत्व क्यों प्रदर्शित नहीं करते? साथ यह भी कि परमाणु के नाभिक के चारों ओर इलेक्ट्रॉन बादल के रूप में मौजूद रहते हैं। और यह भी कि नाभिक के चारों ओर घूमने के साथ-साथ इलेक्ट्रॉन अपनी धुरी पर भी घूमते हैं जिसकी वजह से पदार्थ को चुंबकत्व प्राप्त होता है।

इसी लेख के पृष्ठ 39 पर यह लिखा है कि यदि दो तारों में विपरीत दिशा में विद्युत धारा बह रही हो तो इन तारों के बीच चुंबकीय आकर्षण पैदा होता है। लेकिन यदि दो तारों में एक ही दिशा में विद्युत बह रही हो तो तारों के बीच निर्मित चुंबकीय क्षेत्र तारों को विकर्षित करेगा।

जबकि मैंने *बेसिक इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग, भाग:1, बी. एल. थेराजा* पेज 223 में पढ़ा है कि – "दो समांतर तार एक-दूसरे को आकर्षित करेंगे यदि उनमें से विद्युत धारा समान दिशा में प्रवाहित हो रही हो। और एक-दूसरे को विकर्षित करेंगे यदि उनमें से होकर बहने वाली विद्युत धारा विपरीत दिशा में बह रही हो।"

मैं थोड़ा दुविधा में हूं। कृपया मेरा मार्गदर्शन कीजिए और बताइए कि हकीकत क्या है?

अजय नामदेव तायडे
बडनेरा, ज़िला अमरावती, महाराष्ट्र

आपने सही बताया है। पेज 39 के वाक्य में सुधार कर उसे इस तरह पढ़ा जाना चाहिए – 'यदि दो तारों में विपरीत दिशा में विद्युत बह रही हो तो इन तारों के बीच चुंबकीय विकर्षण पैदा होगा। लेकिन यदि दो तारों में एक ही दिशा में विद्युत धारा प्रवाहित हो रही हो तो तारों के बीच निर्मित चुंबकीय क्षेत्र तारों को आकर्षित करेगा।'

– संपादक मंडल

अंक 39 ज्ञानवर्धक और जानकारी पूर्ण रहा। मैंने इसी साल विज्ञान विषय लिया है। संदर्भ से काफी सहायता मिल रही है, साथ ही रुचि में भी विस्तार हो रहा है। चाहे वह जीव-जगत हो या कोई अन्य लेख, समझाया काफी विस्तार से जाता है।

अंक 39 में लिटसम का इतिहास, सवालीराम, चींटियों का पत्तीघर लेख अच्छे रहे। संदर्भ के कवर पर छपा चित्र बकवास लगा, ऐसा लगा सिर्फ कवर पूरा करने के लिए था। आप कवर पर बेहतर चित्र प्रकाशित किया कीजिए। साथ ही आप विज्ञान के क्षेत्र में हो रही खोजों, प्रयोगों की खबरें भी प्रकाशित करते रहें ताकि उन्हें अन्य जगह न ढूंढना पड़े। अंक 40 का इंतज़ार कर रहा हूं।

राजकुमार बंसल
भदरा, राजस्थान

संदर्भ का 39वां अंक हाथ में ही है। प्रोफेसर यशपाल का लेख बहुत अच्छा लगा। अगस्त 2000 में प्रोफेसर यशपाल झाबुआ भी आए थे। वहां मैंने उनके विचार को प्रत्यक्षतः सुना। 'आदिवासी बच्चों के साथ विज्ञान चर्चा' के अंतर्गत दूर-दूर से बच्चे आए थे। उनसे सवाल पूछने के लिए कहा गया लेकिन झिझक के कारण बच्चे सवाल नहीं पूछ रहे थे तब यशपाल बच्चों से खुद सवाल पूछने लगे। फिर हस्त-रेखाओं पर बात चल निकली। अंधविश्वासों को दूर करते हुए जीवन रेखा, हृदय रेखा, आदि को नकारते हुए प्रोफेसर यशपाल ने बताया कि जिस तरह हाथ-पैरों को मोड़ने के लिए जोड़ों की ज़रूरत होती है उसी तरह हथेली को मोड़ने के लिए भी चमड़ी में सिलवटें होना ज़रूरी हैं, जो रेखाओं के आकार और रूप में दिखाई देती हैं। जहां से हाथ बार-बार मुड़ता है वे रेखाएं ज़्यादा गहरी हो जाती हैं।

बीच-बीच में वे मज़ेदार सवाल भी पूछते गए मसलनः पृथ्वी का आकार ऊपर-नीचे की ओर थोड़ा चपटा क्यों है जबकि जगह की कोई कमी नहीं थी? बच्चों ने जवाब देने की कोशिश की – अंत में यशपाल जी ने सही जवाब देकर बच्चों की जिज्ञासा को शांत किया।

उन्होंने एक छोटे से नाटक के माध्यम से ओज़ोन परत के नष्ट होने के कारण को समझाया। मैंने भी उनसे इस नाटक के माध्यम से कक्षा में पढ़ाने की अनुमति चाही तो उन्होंने सहर्ष मान लिया। मैंने अपनी कक्षा में इस नाटक के मार्फत बच्चों के साथ प्रयोग किए जो काफी रोचक और मज़ेदार रहे। समझने में जो आनंद है वह किसी और में नहीं।

काजल कुमार नंदी
झाबुआ, मध्यप्रदेश

काफी लंबे अंतराल के बाद कुछ दिनों पहले ही अपने गांव पहुंचा और संदर्भ के सहेजकर रखे हुए पुराने अंक देखने लगा। संदर्भ के परिवर्तित कलेवर को देखकर अत्याधिक प्रसन्नता हुई। पहले केवल मैं ही संदर्भ पढ़ता था लेकिन मेरी अनुपस्थिति में मेरे परिजन भी अनायास इस पत्रिका की ओर आकर्षित होते चले गए और उन्हें भी संदर्भ का बेसब्री से इंतज़ार रहता है। मुझे पिछले कुछ अंकों में प्रकाशित लेख एवं संबंधित चित्र बेहद अच्छे लगे।

मेरा सुझाव है कि आप अपने नियमित पाठकों को साल में एक बार

कोई उपहार ज़रूर भिजवाया कीजिए जैसे कैलेंडर आदि जो संदर्भ के प्रचार का एक अच्छा, सस्ता और सुलभ तरीका हो सकता है।

शशि कुमार जोशी
भिनाय, अजमेर, राजस्थान

संदर्भ का अंक 39 मिला। पाकर खुशी हुई। संदर्भ पर चिपकी पते वाली पर्ची पर अंकित है 44th issue (last issue) जो ठीक नहीं है क्योंकि मैंने सदस्यता शुल्क एक साल का भेजा था और अभी तो अंक 39 ही मिला है। जो पहला अंक मिला वो ही अंतिम अंक कैसे हो गया? कृपया तहकीकात करने का कष्ट कीजिए।

टिकाराम पटेल
मिदनापुर, पश्चिम बंगाल

पिछले अंक में 'चींटियों का पत्तीघर' लेख में बरबूटा का जीववैज्ञानिक नाम Occophylla बताया गया था उसे सुधारकर Oecophylla पढ़िए।

— सपादक मडल

क्या है इसके मायने

40th issue Last issue

संदर्भ के वार्षिक सदस्यों के लिफाफे पर चिपकी पते वाली पर्ची पर ऊपर की तरह लिखा होता है। इसका मतलब है कि आपकी वार्षिक सदस्यता 40वें अंक तक है।

यदि आपकी पर्ची पर लिखा है 44th issue (Last issue) तो उसका अर्थ है कि 44वां अंक अंतिम है यानी आपकी सदस्यता 44वें अंक पर खत्म हो रही है। इसलिए अंक 43 मिलते ही अपनी वार्षिक सदस्यता का नवीनीकरण करवा लीजिए।

एक दूजे के लिए

हॉक पतिंगा और मधुमालती के फूल

के. आर. शर्मा

मौसम बरसात का है। मेरे घर के आंगन में मधुमालती की बेल में लगे फूलों पर एक तितलीनुमा कीड़ा मंडराता नज़र आया। मैंने इस ओर बहुत ज़्यादा ध्यान नहीं दिया, पर मेरी बेटी और बेटे ने बताया कि जो तितलीनुमा कीड़ा फूलों पर मंडराता है वो अपने मुंह में कोई तिनकेनुमा चीज़ दबाए है, और उसे मधुमालती के नलीदार फूलों के अंदर, उड़ते-उड़ते ही घुसेड़ देता है। जब यह सुना तो मैं भी पूरे मामले को जानने और समझने के लिए उत्सुक हो उठा। लेकिन यह नज़ारा देखने के लिए हमें इंतज़ार करना पड़ा क्योंकि वह कीड़ा शाम को ही दिखाई देता है। उस दिन हम सूर्यास्त का बेसब्री से इंतज़ार कर रहे थे।

इधर सूर्य अपनी रोशनी को समेट रहा था, उधर पंखदार कीड़े पता नहीं कहां-कहां से तेज़ी से उड़-उड़कर आने लगे और मधुमालती के फूलों पर मंडराने लगे। फूलों पर मंडराने के साथ ही उनके मुंह के आगे लंबी-सी तिनकेनुमा रचना दिखाई देने लगी जिसे वे फूल के भीतर डालते और चंद सेकंड में बाहर निकालकर किसी और फूल की ओर मुखातिब हो जाते। भूरे रंग का कीड़ा जो दिखने में तितलीनुमा पर उड़ने में तितली से कई गुना तेज़, पंख और शरीर इतने मज़बूत कि यह उड़ते-उड़ते ही फूलों के अंदर तिनका डाल देता है। हम सभी की जिज्ञासा बढ़ गई और सब इस छानबीन में लग गए कि आखिर मामला क्या है।

रात हो रही थी। इन पंखदार कीड़ों की आवाजाही चल रही थी। कुछ कीड़े शायद उड़ते-उड़ते और फूलों पर मंडराते हुए थककर दीवार पर बैठ गए। यह हमारे लिए अच्छा मौका था – उस कीड़े को इत्मीनान के साथ देखने एवं परखने का! तभी हमने एक कीड़े को पकड़ भी लिया।

कीड़ा बनाम कीट बनाम पतिंगा

सबसे पहले तो यह पहचान एक झटके में हो गई कि यह कीट है क्योंकि शरीर तीन भागों (सिर, वक्ष और उदर) में बंटा हुआ था और तीन जोड़ी टांगें थीं। हालांकि कीटों के लक्षणों की फेहरिस्त में और चीज़ें भी जुड़ती हैं पर यदि उपरोक्त दो पहचान लें तो भी बात बन जाती है। हालांकि मैंने और बच्चों ने उस कीट में कुछ और चीज़ें भी देखी, मसलन स्पर्शक, संयुक्त आंखें आदि। सरसरी तौर पर ऐसा लग सकता है कि यह तितली है। इस कीट के बारे में थोड़ा और जानने की कोशिश की तो पता चला कि यह तितली नहीं है। वास्तव में यह एक पतिंगा है। देखिए बॉक्स।

जब पता चल गया कि यह पतिंगे की एक किस्म है तो मेरी बेटी और

तितली और पतिंगे: पहचान मुश्किल नहीं

कीट समूह में तितली और पतिंगे एक ही समूह (लेपिडोप्टेरा) में आते हैं। तितली और पतिंगे दोनों में ही दो जोड़ी पंख एवं कुंडलित सूंड (प्रोबोसिस) होती है। और सूंड की मदद से ये फूलों का मकरंद चूसते हैं। इसके बावजूद भी इनको पहचानना आसान है।

आमतौर पर तितलियां दिन में सक्रिय रहती हैं जबकि पतिंगे सूर्यास्त के बाद। खासकर बरसात के दिनों में बल्ब और ट्यूबलाइट के आस-पास मंडराने वाले तितलीनुमा कीट पतिंगे ही होते हैं।

तितली और पतिंगे में एक खास अंतर होता है पंखों के फैलाव का। तितली जब बैठती है तो उसके पंख खड़े होते हैं जबकि पतिंगे के पंख ज़मीन की सतह के समांतर फैले रहते हैं।

एक अंतर और है तितली के स्पर्शक गठानदार होते हैं जबकि पतिंगे में मुलायम और रोएंदार।

बेटे ने एक सुर में कहा कि उस तिनके का क्या हुआ जो इसके मुंह के आगे दिखता है? बेटी ने कहा कि कहीं ऐसा तो नहीं कि यह कहीं से तिनका उठाकर ले आता हो। मैंने कभी पढ़ा था कि कुछ पतिंगों में सूंड काफी लंबी होती है। वैसे तो तितली की सूंड देखी भी है। यह सूंड घड़ी की स्प्रिंग के समान कुंडल खाई हुई, सिर के नीचे एक खांचे में दबी रहती है। तितली को फूलों का रस चूसते भी देखा है। जब तितली रस चूसती है तो वह फूल पर बैठकर अपनी स्प्रिंगनुमा सूंड को तानकर लंबा करती है। मुझे लग रहा था कि हो न हो यह तिनकेनुमा चीज़ इसकी सूंड हो सकती है। मैंने पतिंगे को पकड़ा और पेंसिल की नोक से सिर के नीचे खांचे में से सूंड को निकालकर लंबा किया तो हम सबके लिए यह आठवें आश्चर्य से बढ़कर खोज थी – जनाब पतिंगे की सूंड निकली 9.5 सेंटीमीटर लंबी! यानी कि पतिंगे की लंबाई से सूंड कोई तीन गुना लंबी थी।

हॉक पतिंगों की खासियत होती है कि ये उड़ते-उड़ते ही फूलों का मकरंद चूसते हैं, फूलों पर बैठते नहीं। जब पता चल गया कि यह तो इसकी सूंड है तो फिर कल्पना के घोड़े दौड़ने लगे। इस भूरे रंग के हॉक पतिंगे को फूल पर मंडराते देख हमिंग बर्ड की याद ताज़ा हो आई।
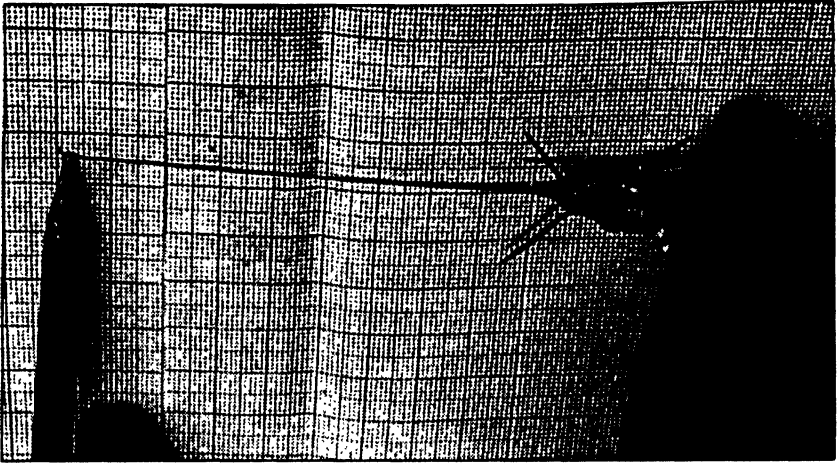
हॉक पतिंगे की सूंड (Proboscis) काफी लंबी होती है। एक पतिंगे को पकड़कर उसकी सूंड को लंबा किया गया तो पता चला कि सूंड की लंबाई 9.5 सेंटीमीटर है जो मधुमालती के फूल में से मकरंद चूसने के लिए पर्याप्त है।

एक दूजे के लिए

जब मैंने और जानकारी इकट्ठी करने की कोशिश की तो पता चला कि हॉक मॉथ और नलीदार फूल वाली वनस्पति, ये दोनों साथ-साथ विकास (Co-evolution) का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। ज़्यादातर फूल जो रात में खिलते हैं, सूर्यास्त के बाद खिलते हैं, सफेद या हल्के रंग के होते हैं और उनमें गंध होती है, वे कीटों को आकर्षित कर पाते हैं। ऐसे अधिकांश फूलों का परागण पतिंगों द्वारा किया जाता है। ज़्यादातर हॉक मॉथ में सूंड काफी लंबी होती है। 1862 में चार्ल्स डार्विन का ध्यान इस ओर गया कि मेडागास्कर में पाए जाने वाले ऑर्किड के नलीदार फूल में मकरंद ग्रंथियां एकदम पेंदे में, लगभग 10-13 इंच गहराई में होती हैं। उनको अंदाज़ा नहीं था कि कोई कीट इतनी गहराई से मकरंद प्राप्त करता होगा और परागण करता होगा। परंतु वेलेस ने अनुमान लगाया कि हॉक मॉथ ही इसका परागण करता होगा। सन् 1903 में मेडागास्कर में हॉक मॉथ देखा गया जिसकी सूंड 11 इंच लंबी होती है।

हमने जो भूरे रंग का हॉक पतिंगा देखा इसका भी नलीदार फूल वाली वनस्पति से गहरा ताल्लुक दिखाई पड़ता है। आंगन में लगे अकाव,

रातरानी और पपीते के फूलों पर ये भूलकर भी नहीं पहुंचते। इस तरह के रिश्ते में 'लेन-देन' का खासा महत्व है – 'इस हाथ दो और उस हाथ लो'।

मधुमालती का फूल

हमने हॉक पतिंगे की तो खूब सारी चर्चा कर ली, पर मधुमालती के फूल की बात किए बिना मामला अधूरा रह जाएगा। मधुमालती एक बेल है। आप शहरों में इसको हर तीसरे-चौथे घर में देख सकते हैं।

मधुमालती की बेल पर लगे फूल गुच्छे में होते हैं, और दो रंग के दिखते हैं – एक चटक लाल रंग के होते हैं और दूसरे हल्के गुलाबी रंग के। जब कली खिलकर फूल बनती है तो फूल हल्के गुलाबी रंग के होते हैं; और बाद में यही फूल चटक लाल रंग के हो जाते हैं।

कलियां आमतौर पर शाम को ही खिलकर फूल में बदल जाती हैं। और मज़ेदार बात यह कि पतिंगे इन हल्के गुलाबी रंग के यानी कि ताज़ा खिले फूलों पर ही ज़्यादा मंडराते हैं। मैंने जितनी भी तस्वीरें लीं उससे भी इसी

हॉक पतिंगे जब मधुमालती के फूलों के आसपास न मंडरा रहे हों तब वे अपनी सूंड को स्प्रिंग की तरह मोड़कर रखते हैं। तितलियां भी अपनी सूंड को इसी तरह समेटकर रखती हैं। फूलों के पास मंडराते हुए वे अपनी सूंड को तान लेते हैं जिससे ऐसा एहसास बन सकता है मानो उन्होंने मुंह में तिनका दबाया हो।

हॉक पतिंगे: एक नज़र में

पतिंगों के समूह में एक बिरादरी है हॉक पतिंगों की। इसके परिवार का नाम है स्फींगिडी। हॉक पतिंगे मजबूत शरीर वाले और तेज़ उड़ाकू होते हैं। इनकी उड़ने की गति लगभग 50-55 कि.मी. प्रति घंटे होती है। इनमें आहार लेने के लिए लंबी सूंड होती है। ये जब फूलों से मकरंद चूसते हैं तो उनपर बैठते नहीं हैं। ज़्यादातर हॉक पतिंगे रात्रिचर होते हैं। हॉक पतिंगे यदि कहीं बैठकर आराम फरमा रहे हों और उन्हें छेड़ा जाए तो ये एकदम से नहीं उड़ते। ये कुछ क्षणों तक अपने पंखों को तेज़ी से फड़फड़ाकर पहले अपने शरीर को गर्मी देते हैं और फिर उड़ जाते हैं।

बात की पुष्टि होती है।

ताज़े खिले यानी कि हल्के गुलाबी फूलों पर ही क्यों मंडराते हैं पतिंगे? यह जानने के लिए दोनों तरह के फूलों को खोलकर देखा तो पाया कि हल्के गुलाबी रंग के फूल की नली में मकरंद ज़्यादा होता है। चटक लाल रंग के फूलों में एकदम कम या बिल्कुल नहीं। मुझे इस पतिंगे का जीवशास्त्रीय नाम तो मिला, पर हिन्दी नाम नहीं मिला। इसका जीवशास्त्रीय नाम 'एग्रियस कोनवोल्वी' है। अंग्रेज़ी में इसे 'कोनवोल्वस हॉक मॉथ' कहा जाता है। यह पतिंगा अफ्रीका, यूरोप, एशिया से जापान तक, ऑस्ट्रेलिया तथा पेसिफिक आइलैंड में पाया जाता है। इसके बारे में एक जानकारी और मिली कि यह प्रवासी यानी माइग्रेटरी है। लेकिन इस बारे में बहुत ज़्यादा जानकारी नहीं मिल सकी। हमने भी इस पतिंगे को जुलाई से अक्टूबर तक ही देखा। उसके बाद अभी तक यह देखने में नहीं आया। हमारे लिए शोध का विषय है कि यह कहीं से प्रवास करके आता है या फिर वयस्क पतिंगे का जीवन काल इतना ही होता है।

उपसंहार में यही कहना चाहूंगा कि हमारे आसपास ऐसे कितने ही अजूबे बिखरे पड़े हैं फिर भी हमारी पुस्तकों में ज़्यादातर उदाहरण विदेशों में पाए जाने वाले जीव-जंतुओं के ही होते हैं।

के. आर. शर्मा: एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से जुड़े हैं। उज्जैन में रहते हैं। विज्ञान लेखन व फोटोग्राफी में रुचि।

सभी फोटो: के. आर. शर्मा।

रंगों का दोलन तश्तरी में
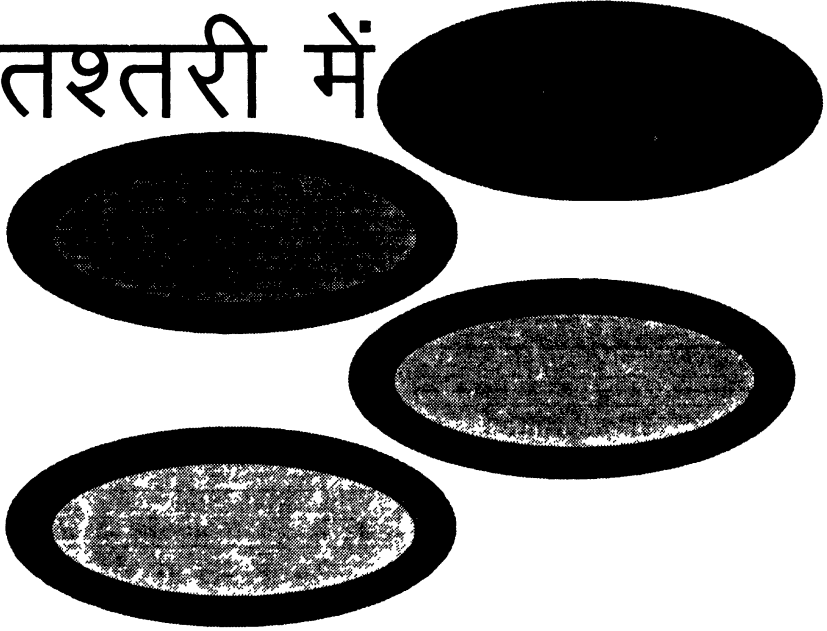
अभय कर्नाटकी, अरुण बनपूरकर, प्रियदर्शनी कर्वे

किसी हरे-भरे प्रदेश में हिरणों का एक झुण्ड रहता था और सिंहों का एक झुण्ड भी। हिरण हरी भरी नरम घास खाकर अपना गुज़ारा करते थे, जबकि सिंह हिरणों को अपना भोजन बनाते थे। जब कभी हिरणों की संख्या बढ़ जाती थी तब निरंतर चराई से घास नष्ट होने लगती, घास की वृद्धि रुक जाती थी। ऐसे समय में सिंहों के लिए मैदान साफ हो जाता

था। हिरणों का शिकार आसान हो जाता था, परिणामस्वरूप हिरणों की संख्या कम होने लगती और सिंहों की संख्या बढ़ने लगती थी। हिरणों की संख्या घटने पर घास में तेज़ी से वृद्धि होने लगती, सिंहों को शिकार पकड़ने में दिक्कत होने लगती और भोजन की कमी से उनकी संख्या घटनी शुरू हो जाती। इस प्रकार घास के बढ़ने की दर और हिरणों द्वारा घास के भक्षण की दर में बारी -बारी से होने वाली घट-बढ़ के साथ ही, हिरण और सिंहों की संख्या में भी घट-बढ़ होती रहती थी। बाहर से कोई हस्तक्षेप न होने की स्थिति में घट-बढ़ का यह दोलन लगातार जारी रहता था।

जैविक प्रणालियों में इस प्रकार के दोलनों के कई उदाहरण देखने को मिलते हैं। जैविक प्रणालियां अपने आसपास के परिवेश के साथ ऊर्जा का आदान-प्रदान करती रहती हैं। उपरोक्त उदाहरण में बाहर से सूर्यप्रकाश, पानी व अन्य पोषक तत्व उपलब्ध होने से घास की वृद्धि होती रहती है। इसी वजह से इस प्रणाली में प्राणियों की संख्या में घट-बढ़ के दोलन की संभावना बनी रहती है। मान लीजिए एक पिंजरे में हम घास की सीमित मात्रा रख देते हैं और पिंजरे में कुछ हिरण और सिंहों को बंद कर देते हैं। इस परिस्थिति में आपको हिरण व सिंहों की संख्या में घट-बढ़ यानी दोलन नहीं दिखेंगे क्योंकि हिरण चारा खा लेंगे, सिंह हिरणों का सफाया कर देंगे और अंततः भोजन के अभाव में वे भी मर जाएंगे। तात्पर्य यह है कि दोलन केवल खुली प्रणाली (Open System) में ही संभव होते हैं। बंद प्रणाली (Close System) में जहां आसपास के परिवेश के साथ किसी भी प्रकार का आदान-प्रदान संभव नहीं हो, कोई भी प्रक्रिया प्रारंभ होने पर केवल एक ही दिशा में आगे बढ़ती जाती है, प्रक्रिया की वापसी की कोई गुंजाइश नहीं होती है। यह कुदरत का कायदा है। यही कारण है कि पानी से भरे गिलास में स्याही की बूंद टपकाने पर धीरे-धीरे स्याही पूरे पानी में फैल जाती है। इस सच्चाई पर सभी विश्वास कर लेते हैं, वे भी जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप से इस प्रयोग को करके नहीं देखा है। ऐसे में यदि कोई कहे कि कुछ समय पश्चात स्याही के कण पुनः एक बूंद के रूप में एकत्रित हो गए तो एकाएक इस बात पर कोई विश्वास नहीं करेगा। इस प्रयोग को करके देखने का ख्याल भी दिल में नहीं आएगा। यही नहीं, इस घटना को घटते हुए देखने पर भी लोग यही सोचेंगे कि ज़रूर इसमें कोई हाथ की सफाई है।

बेलुसोव के अवलोकन

ऐसे ही कुछ अनुभवों से सन् 1951 में रूसी वैज्ञानिक बोरिस

बेलुसोव को रु-ब-रु होना पड़ा। उस समय वो एक सैनिक प्रयोगशाला में रिसर्च करने वाला रसायनविद था। वो वहां ग्लाइकोलिसिस नामक जैव-रासायनिक प्रक्रिया का अध्ययन कर रहा था। जीवित कोशिकाओं में ग्लूकोज़ के अणु विघटित होकर ऊर्जा मुक्त करते हैं, इस प्रक्रिया को ग्लाइकोलिसिस कहते हैं। बेलुसोव इस प्रक्रिया के एक छोटे हिस्से को प्रयोगशाला में सम्पन्न कराने का प्रयास कर रहा था। उसने जो देखा वह अचंभित करने वाली घटना थी। रासायनिक प्रक्रिया पूर्णता की ओर अग्रसर नहीं हो रही थी, बल्कि आगे और पीछे की दिशा में दोलन करती हुई प्रतीत हो रही थी। मूलतः जो मिश्रण रंगहीन था वह कुछ समय पश्चात पीला रंग ग्रहण कर लेता था, और निश्चित अंतराल के बाद रंगहीन हो जाता था। यही प्रक्रिया बार-बार दुहराई जा रही थी। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो बेलुसोव की तश्तरी में मूलभूत सिद्धांतों को न मानते हुए मिश्रण में रंगहीन व पीले रंग के दोलन हो रहे हों।

इस शोधकार्य पर बेलुसोव ने एक शोधपत्र लिखा और विज्ञान की जानी-मानी शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशन हेतु भेज दिया, किन्तु दुर्भाग्यवश उसके अवलोकन इतने हैरतअंगेज़ थे कि शोधपत्र को प्रकाशन हेतु स्वीकार नहीं किया गया। इस घटना से बेलुसोव को इतना अधिक सदमा पहुंचा कि उसने विज्ञान विषय से ही सन्यास ले लिया।

बहरहाल इत्तफाक कुछ ऐसा हुआ कि कुछ साल बाद रूस के एक और उत्साही नौजवान वैज्ञानिक एस. सी. श्लोन की जैव-रसायनों की आवर्ती क्रियाओं में दिलचस्पी जागी। उन्होंने बेलुसोव से संपर्क किया और उससे शोधकार्य आगे बढ़ाने का आग्रह किया। लेकिन बेलुसोव अपने फैसले से टस-से-मस न हुआ, परन्तु उसने श्लोन को अपने शोधकार्य की जानकारी दी। साथ ही अपना शोधपत्र शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित करने के लिए मंजूरी भी दे दी। सन् 1957 में बेलुसोव का शोधपत्र श्लोन के शोध-संस्थान की पत्रिका में प्रकाशित हुआ, परन्तु रूस के बाहर किसी को भी इस रिसर्च की जानकारी नहीं थी।

श्लोन के मार्गदर्शन में उसके एक विद्यार्थी, अनातोल झाबोटिन्स्की ने बेलुसोव की आवर्ती रासायनिक क्रियाओं का गहन अध्ययन किया। उसने बताया कि एक बंद प्रणाली में भी दोलन संभव होते हैं और कालांतर में रासायनिक क्रिया पूरी हो जाती है। इस तरह यहां कुदरत के किसी भी नियम-कायदे को नहीं तोड़ा जा रहा है। आवर्ती रासायनिक क्रियाओं के अनेक उदाहरण आज हमें मालूम हैं। रसायन विज्ञान की भाषा मे इन क्रियाओं को बेलुसोव-झाबोटिन्स्की

क्रियाएं अथवा संक्षिप्त में बी-ज़ेड अभिक्रियाएं कहा जाता है।

ऐसी ही एक बी-ज़ेड क्रिया हमने प्रयोगशाला में आसानी से मिल सकने वाले रसायनों की मदद से करके देखी। इसे आप भी स्कूल की प्रयोगशाला में करके देख सकते हैं।

रंगों का दोलन: तश्तरी में

ऐसी ही एक बी-ज़ेड अभिक्रिया के बारे में वर्ष 1974 की साइन्टिफिक अमेरिकन नाम की विज्ञान पत्रिका में हमने पढ़ा था। शोधछात्र आर्थर विनफ्री द्वारा इस क्रिया का विस्तृत वर्णन दिया गया था। इस प्रयोग में इस्तेमाल किए गए सभी रसायन सरलता से उपलब्ध हो जाते हैं, अत: हमने भी अपनी प्रयोगशाला में इस प्रक्रिया को दोहराने का सोचा। हमने न केवल रंगों के दोलनों का अवलोकन किया बल्कि तश्तरी में निश्चित अंतराल से उभरने वाली रंगों की छटाओं को कैमरे में कैद करने का भी प्रयास किया। मिश्रण में विभिन्न रसायनों की तुलनात्मक सान्द्रता को बदलने तथा सूक्ष्म मात्रा में नए पदार्थों को मिलाने पर रंगों के दोलनों पर होने वाले प्रभावों का भी हमने अध्ययन किया। मिश्रण को स्थिर रखने पर भी रसायनों की तुलनात्मक सान्द्रता में स्थानीय भिन्नता (local variation) के कारण मिश्रण के अलग-अलग हिस्सों में अलग-अलग रंगों को उभरते हुए देखा जा सकता था। तश्तरी में रंगों के विभिन्न पैटर्न को बनते बिगड़ते देखना एक रोचक अनुभव था। आप भी अपनी प्रयोगशाला में इस प्रयोग को दोहराकर देख सकते हैं। इसके लिए ज़रूरी सामान इस तरह से है:

सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल – 2 मिली
सोडियम ब्रोमेट ($NaBrO_3$) – 5 मिग्रा
सोडियम ब्रोमाइड (NaBr) – 1 ग्राम
मैलोनिक अम्ल – 1 ग्राम
0.025 M फेरोईन सूचक – 1 मिली
कांच की तश्तरी, बीकर, छड़ . . .
आसुत जल

प्रयोग की शुरुआत करते हुए सबसे पहले 67 मि.ली. आसुत जल में 2 मि.ली. सान्द्र सल्फ्यूरिक अम्ल धीरे-धीरे सावधानी से मिलाना है। इसके बाद इस विलयन में 5 मि.ग्राम सोडियम ब्रोमेट घोलें। और फिर इस में से 6 मि.ली. विलयन कांच की एक तश्तरी में निकाल लें।

अब एक और बीकर में 10 मि.ली. आसुत जल में 1 ग्राम सोडियम ब्रोमाइड घोलें। इस घोल में से 0.5 मि.ली. निकालकर पहले वाली कांच की तश्तरी में मिला दें।

फिर 10 मि.ली. आसुत जल में 1 ग्राम मैलोनिक अम्ल घोलकर इस घोल में से 1 मि.ली. को पहले वाली तश्तरी में मिलाना है। इसे मिलाते ही मिनट भर में आप पाएंगे कि तश्तरी

में घोल का रंग पहले नारंगी और बाद में रंगहीन हो जाता है।

अब आखिरी चरण में इस तश्तरी में 1 मि.ली. फेरोइन सूचक मिलाकर मिश्रण को कांच की छड़ से हिलाइए। आप देखेंगे कि मिश्रण में बारी-बारी से लाल और नीले रंग उभर रहे हैं।

इस प्रयोग को पूरी कामयाबी के के साथ करना हो तो कुछ एहतियात बरतना ज़रूरी है मसलन इस्तेमाल की जाने वाली कांच की समस्त सामग्री अच्छी तरह धुली हो व सभी रसायन शुद्ध हों। कोशिश कीजिए कि कांच के सामान या किसी भी रसायन को हाथ से न छुएं क्योंकि हमारे पसीने में मौजूद क्लोराइड आयन की वजह से रंगों के दोलन में रुकावट पैदा हो सकती है।

क्यों होते हैं रंगों के दोलन?

उपरोक्त क्रिया में ब्रोमेट, ब्रोमाइड व मैलोनिक अम्ल प्रमुख किरदार हैं। आयरन के एक संकुल यौगिक, फेरोइन का सूचक के रूप में प्रयोग किया गया
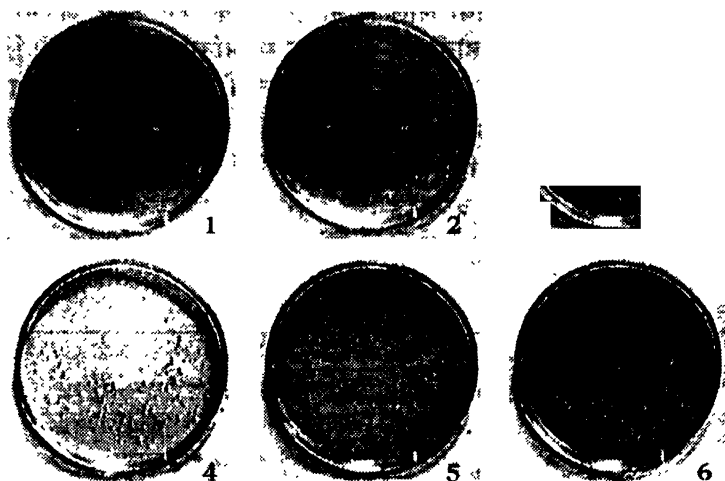
बी-ज़ेड कैमरे की कैद में: रंगों के दोलन को देखने के लिए फेरोइन सूचक मिलाने के बाद, कैमरे को एकदम तैयार रखकर, पहले तीन फोटोग्राफ 2–2 सेकेंड के अंतराल से खींचे गए तथा चौथा फोटो 18 सेकेंड के बाद खींचा गया है। बाद के दोनों फोटो फिर से 2–2 सेकेंड के अंतराल से खींचे गए हैं। फोटो क्रमांक 1 में तश्तरी में लाल रंग गाढ़ा है तो 3 में नीला रंग दिखने लगा है और 4 में नीला रंग गाढ़ा है। 6 में एक बार फिर लाल रंग काफी स्पष्ट रूप से दिखने लगा है। रंगों के नज़ारे का मज़ा लेने के लिए पीछे का कवर देखें।

है। इसके ज़रिए क्रिया की प्रगति पर नज़र रखी जा सकती है। यह एक रेडॉक्स सूचक है जिसमें उपस्थित आयरन फेरस (Fe^{2+}) अवस्था में लाल तथा फेरिक (Fe^{3+}) अवस्था में नीला रंग प्रदर्शित करता है।

रंग परिवर्तन द्वारा यह माध्यम की अपचायक या ऑक्सीकारक प्रकृति की पहचान कराता है। किसी रासायनिक मिश्रण में यदि अपचयन व ऑक्सीकरण (रिडक्शन व ऑक्सीडेशन) के लिए अनुकूल स्थितियां बारी-बारी से पैदा होती हैं तो फेरोइन सूचक की उपस्थिति में रासायनिक क्रिया लाल व नीले रंग के बीच दोलित होती हुई प्रतीत होती है।

ब्रोमेट, ब्रोमाइड व मैलोनिक अम्ल के बीच क्रिया से ऐसी ही स्थितियां निर्मित होती हैं। इस क्रिया में ब्रोमाइड आयनों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। ब्रोमाइड आयनों की सान्द्रता बारी-बारी से घटती बढ़ती रहती है, इसी के साथ मिश्रण में नीले व लाल रंग की लहरें उत्पन्न होती हैं।

प्रारंभ में आयरन फेरस अवस्था में होने के कारण मिश्रण का रंग लाल होता है। ब्रोमेट, ब्रोमाइड व मैलोनिक अम्ल के बीच क्रिया के फलस्वरूप जैसे-जैसे मिश्रण में ब्रोमोमैलोनेट बनता जाता है, ब्रोमाइड आयनों की सान्द्रता घटती जाती है। सूचक के ऑक्सीकरण के लिए यह अनुकूल स्थिति है, ब्रोमाइड आयनों की अनुपस्थिति में ब्रोमेट आयन सूचक को फेरस अवस्था से फेरिक में ऑक्सीकृत करते हैं। क्रिया में उत्पन्न ब्रोमोमैलोनेट भी फेरस को फेरिक में बदलता है। अतः मिश्रण का रंग लाल से नीला हो जाता है।

परन्तु ऑक्सीकरण की उपरोक्त क्रियाओं के दौरान मिश्रण में पुनः
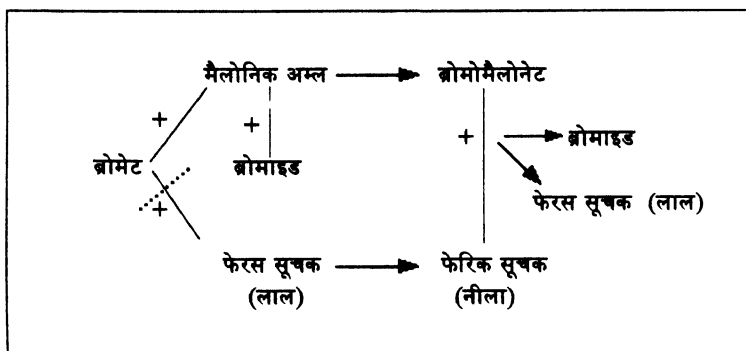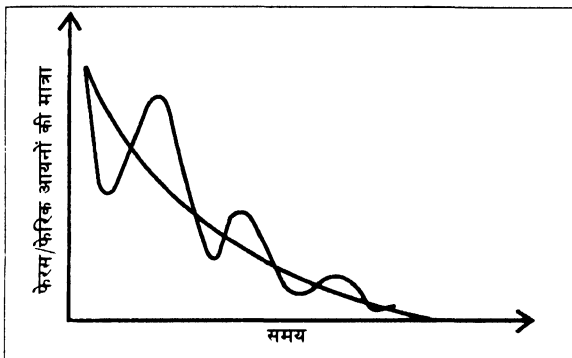
इस प्रयोग में कई तरह के बदलाव किए जा सकते हैं जैसे: सल्फ्यूरिक अम्ल के स्थान पर सोडियम बाइसल्फेट का प्रयोग किया जा सकता है। इसी प्रकार से सोडियम ब्रोमेट व ब्रोमाइड के स्थान पर पोटेशियम लवणों का उपयोग कर सकते हैं। मिश्रण में सोडियम ब्रोमाइड की मात्रा कम करने पर आंदोलन की आवृत्ति बढ़ती है, अर्थात रंग परिवर्तन जल्दी-जल्दी होता है। यदि मैलोनिक अम्ल के स्थान पर अन्य अम्लों, जैसे डाइब्रोमो या मोनोब्रोमो मैलोनिक अम्ल, साइट्रिक अम्ल, मैलेइक अम्ल अथवा मैलिक अम्ल, का प्रयोग किया जाता है तो दोलन प्रारंभ होने में काफी समय लग जाता है। कभी-कभी तो आधे घंटे से भी ज़्यादा समय लगता है दोलन शुरू होने में।

ब्रोमाइड आयन उत्पन्न होने लगते हैं। फलस्वरूप ब्रोमाइड आयनों की सान्द्रता बढ़ती है। अतः फेरिक का परिवर्तन फेरस में होने लगता है और मिश्रण का रंग नीले से लाल हो जाता है।

लगभग एक घण्टे तक फेरस और फेरिक अवस्थाओं के बीच दोलन जारी रहते हैं परन्तु समय के साथ धीरे-धीरे दोलनों का ह्रास होता है। अंततः रासायनिक क्रिया किसी एक दिशा में अग्रसर होती है और पूर्णत्व को प्राप्त करती है। इस अवस्था में मिश्रण स्थायी रूप से लाल अथवा नीला हो जाता है। अंतिम रूप से रासायनिक क्रिया किस दिशा में अग्रसर होगी, यह कारकों की शुरुआती सान्द्रता पर निर्भर करता है। विपरीत रासायनिक क्रियाओं के बीच दोलनों के बावजूद अंततः क्रिया का पूर्णत्व की ओर बढ़ना यह साबित करता है कि बी-ज़ेड क्रियाओं में किसी भी मूलभूत नियम का उल्लंघन नहीं होता है।

बी-ज़ेड क्रियाओं में रंग परिवर्तन को अधिक सुस्पष्ट बनाने के लिए अन्य रसायनों का भी उपयोग किया जाता है। उपरोक्त प्रयोग में फेरोइन सूचक की मात्रा घटाकर यदि कुछ बूंदें 0.1M सेरिक सल्फेट की मिलाई जाती हैं तो (Fe^{++} - Fe^{+++}) दोलनों के साथ-साथ मिश्रण में (Ce^{3+} - Ce^{4+}) दोलन भी निर्मित होते हैं, फलस्वरूप लाल व

तीन रंगों वाली बी-ज़ेड क्रिया

आवश्यक सामग्री:

- 30 प्रतिशत हाइड्रोजन पेरॉक्साइड. . . . 40 मि.ली.
- पोटेशियम आयोडाइड. . . . . 4.3 ग्राम
- 70 प्रतिशत परक्लोरिक एसिड. . . . . . 2.3 मि.ली.
- मैलोनिक एसिड . . . . 1.5 ग्राम
- मैंगनीज़ सल्फेट . . . . 0.3 ग्राम
- स्टार्च . . . . 0.3 ग्राम
- आसुत जल
- आयतनी यानी वॉल्युमिट्रिक फ्लास्क (100 मि.ली.)
- कांच के बीकर, छड़ आदि

घोल कैसे बनाएं:

1. 3.6 M **हाइड्रोजन पेरॉक्साइड घोल:** एक बीकर में 60 मि.ली. आसुत जल में 40 मि.ली. हाइड्रोजन पेरॉक्साइड मिलाइए।
2. 0.201 M **पोटेशियम आयोडाइड घोल:** वॉल्युमिट्रिक फ्लास्क में लगभग 50 मि.ली. आसुत जल में 4.3 ग्राम पोटेशियम आयोडाइड घोलिए। फिर और आसुत जल मिलाकर आयतन को 100 मि.ली. बनाइए।
3. 0.159 M **परक्लोरिक एसिड घोल:** लगभग 50 मि.ली. आसुत जल में 2.3

नीले रंग में अधिक गहरापन आ जाता है। फेरोइन तथा सेरिक सल्फेट की परस्पर सापेक्ष सान्द्रता के अनुसार मिश्रण में नीली-जामुनी अथवा लाल-हरी लहरों के दोलन देखे जा सकते हैं।

बेलुसोव ने अपने प्रयोग में सूचक के रूप में मात्र सेरिक सल्फेट का उपयोग किया था। इस सूचक की उपस्थिति में मिश्रण रंगहीन व पीले रंग के बीच दोलन करता है। इन रंगों में फर्क काफी कम होता है इसलिए यह रंग-परिवर्तन पहचान पाना थोड़ा मुश्किल होता है। वहीं लाल और नीले रंग में अंतर कर पाना अपेक्षाकृत आसान होता है। अतः बी-ज़ेड क्रियाओं के प्रदर्शन में प्रायः फेरस-फेरिक दोलनों को ही अपनाया जाता है। सेरियम सल्फेट और फेरोइन की मात्राओं में थोड़ा फर्क करने पर नीला-जामुनी या हरा-लाल दोलन भी देखने को मिलता है।

हमने अपने प्रयोग में फेरोइन और सेरिक सल्फेट के मिश्रण को बतौर सूचक इस्तेमाल किया। इसी तरह

मि.ली. परक्लोरिक एसिड सावधानी से मिलाइए। और आसुत जल मिलाकर आयतन 100 मि.ली. करिए।

4. 0.150 M **मैलोनिक एसिड घोल:** 50 मि.ली. आसुत जल में 1.5 ग्राम मैलोनिक एसिड घोलकर आयतन को 100 मि.ली. बनाइए।
5. 0.0201 M **मैंगनीज़ सल्फेट घोल:** 50 मि.ली. आसुत जल में 0.3 ग्राम मैंगनीज़ सल्फेट घोलकर आयतन 100 मि.ली. बनाइए।
6. 0.03 **प्रतिशत स्टार्च सूचक घोल:** 1000 मि.ली. आसुत जल में 0.3 ग्राम स्टार्च घोलिए।

प्रयोग कैसे करें:

कांच के तीन बीकरों पर क्रमशः A, B, C लेबल लगाइए।

बीकर A इस बीकर में हाइड्रोजन पेरॉक्साइड का घोल रखिए।

बीकर B पोटेशियम आयोडाइड व परक्लोरिक एसिड के घोल मिलाकर इस बीकर में रख लें।

बीकर C मैलोनिक एसिड व मैंगनीज़ सल्फेट के घोल मिलाकर इस बीकर में रखें। इस मिश्रण में सूचक की कुछ बूंदें मिलाइए।

कांच की एक तश्तरी में उपरोक्त तीनों घोल A, B, C की बराबर-बराबर मात्राएं मिलाइए। मिश्रण में बी-ज़ेड क्रिया शुरू होने पर बारी-बारी से रंगहीन, सुनहरी और नीली लहरें उत्पन्न होंगी – यानी बन गया तिरंगा बी-ज़ेड रिएक्शन।

सोडियम ब्रोमेट के एवज में पोटेशियम ब्रोमेट को लिया। विनफ्री ने अपने लेख में इस प्रयोग के संदर्भ में कुछ बदलाव सुझाए थे। हमने भी मूल मिश्रण में ब्रोमाइड का इस्तेमाल ही नहीं किया। परन्तु जैसा कि पहले देखा था कि तश्तरी में क्रिया करवाने में ब्रोमाइड एक खास अभिकारक है। दरअसल ब्रोमोमैलोनेट द्वारा फेरस सूचक को फेरिक सूचक में परिवर्तित करते समय वह इस मिश्रण में बनता है। हमारे द्वारा किए बदलाव का एक फायदा तुरंत दिखाई दिया कि मिश्रण में ब्रोमाइड कम होने की वजह से रंगों के दोलन थोड़े तेज़ी से होने लगे।

बी-ज़ेड क्रिया और फीडबैक तंत्र

बी-ज़ेड क्रिया स्वयं के अभिकारक स्वयं निर्मित करती है (Autocataly-sis)। जिस क्रिया की हमने पहले चर्चा की उसमें ब्रोमाइड क्रिया के फलस्वरूप बनने वाले उत्पादों में से एक है। यह क्रिया धनात्मक फीडबैक (Positive Feedback) का एक उदाहरण है। जब

बी-ज़ेड अभिक्रिया के उपयोग

जापान में तरल खाद्य पदार्थों को गाढ़ा बनाने के लिए एक बहुलक, आइसोप्रोपाइल एक्रिलएमाइड का उपयोग किया जाता है। इस बहुलक (पोलिमर) की एक विशेषता है। रुथेनियम धातु के एक संकुल यौगिक को इस बहुलक में मिलाने पर यह बी-ज़ेड क्रिया प्रदर्शित करता है। रूथेनियम की ऑक्सीकरण अवस्थाओं में दोलन के साथ ही बहुलक के रंग व आकार में भी परिवर्तन होता है। बहुलक का रंग नारंगी से हरा होने पर आकार बढ़ता है (प्रसार) और हरे से नारंगी होने पर घटता है (संकुचन)। हर छः मिनट के अंतराल पर यह परिवर्तन होते रहते हैं।

बहुलक की इस विशेषता के कारण इसका उपयोग पेसमेकर बनाने के लिए किए जाने की संभावना है। मरीज़ के शरीर में दवाओं को धीरे-धीरे और निश्चित अंतराल पर प्रविष्ट कराने के साधन बनाने के लिए यह एक उपयुक्त पदार्थ हो सकता है। बी-ज़ेड क्रिया प्रदर्शित करने वाले इस तरह के बहुलकों के उपयोग की अनेक संभावनाएं हैं।

किसी प्रक्रिया के फलस्वरूप प्राप्त परिणाम प्रक्रिया के कारकों को प्रभावित करता है तब इस घटना को फीडबैक कहा जाता है। हमारे रोज़मर्रा के आर्थिक व्यवहार में फीडबैक के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

यदि किसी वर्ष प्याज़ की पैदावार कम होती है, तो प्याज़ के भाव आसमान छूने लगते हैं। इससे उत्साहित होकर अगले वर्ष अधिक संख्या में किसान प्याज़ के उत्पादन की ओर आकर्षित होते हैं। परिणामस्वरूप प्याज़ की पैदावार बढ़ती है परन्तु भाव में गिरावट आ जाती है। इस संदर्भ में हम कह सकते हैं कि प्याज़ का भाव परिणाम है और प्याज़ की पैदावार कारक।

फीडबैक धनात्मक अथवा ऋणात्मक दोनों तरह का हो सकता है। धनात्मक फीडबैक में परिणाम के प्रभाव से कारकों की ऊर्जा बढ़ती है, जबकि ऋणात्मक फीडबैक में ऊर्जा कम होती है। बढ़े हुए भाव की वजह से अगले वर्ष प्याज़ की पैदावार में बढ़ोत्तरी होना, यह धनात्मक फीडबैक है। यदि परस्पर सहमति से किसानों द्वारा सही योजना बनाई जाती और प्याज़ के बढ़े हुए भाव को कायम रखने के लिए अगले वर्ष कम पैदावार की जाती, तब यह ऋणात्मक फीडबैक का उदाहरण होता। इस लेख के प्रारंभ में घास, हिरण और सिंहों की जिस जैविक प्रणाली का उल्लेख किया गया है उसमें

भी फीडबैक के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। वास्तव में 'जैविक प्रणालियों में फीडबैक' अपने आप में एक स्वतंत्र लेख का विषय हो सकता है।

बी-ज़ेड और नाभिकीय शृंखला

नाभिकीय शृंखला अभिक्रिया (Nuclear Chain Reaction) और बी-ज़ेड क्रियाओं को इस दृष्टि से एक ही समूह में रखा जा सकता है कि दोनों क्रियाएं स्वयं के कारक स्वयं निर्माण करती हैं और दोनों में धनात्मक फीडबैक देखा जाता है। परन्तु दोनों क्रियाओं में मूलभूत अंतर होता है। नाभिकीय क्रिया में यूरेनियम परमाणु के विभाजन स्वरूप न्यूट्रोन उत्पन्न होते हैं; ये न्यूट्रोन अन्य यूरेनियम परमाणुओं के विभाजन को प्रेरित करते हैं और क्रिया निरंतर आगे बढ़ती जाती है। इस क्रिया को यदि बाहर से नियंत्रित न किया जाए तो ये महाविनाशकारी विस्फोट का कारण बनती है (जैसे परमाणु बम में)। क्रिया को बाहर से नियंत्रित करने के लिए न्यूट्रोन्स की संख्या को सीमित करना होता है। न्यूट्रोन अवशोषी पदार्थों का उपयोग करके इस क्रिया को नियंत्रित किया जाता है, जैसे एक परमाणु रिएक्टर में।

फीडबैक कंट्रोल मेकेनिज़्म

किसी प्रक्रिया के परिणाम के द्वारा प्रक्रिया को नियंत्रित करने के लिए फीडबैक मेकेनिज़्म का उपयोग किया जा सकता है। बहुत से इलेक्ट्रॉनिक उपकरण इसी सिद्धांत पर कार्य करते हैं। इसका एक उदाहरण रेफ्रिजरेटर है। रेफ्रिजरेटर का स्विच सतत चालू स्थिति में होते हुए भी रेफ्रिजरेटर द्वारा विद्युत का सतत उपयोग नहीं किया जाता है। रेफ्रिजरेटर में लगी फीडबैक कंट्रोल की युक्ति के कारण विद्युत प्रवाह के बारी-बारी से रुकने व चालू होने की प्रक्रिया निरंतर जारी रहती है। रेफ्रिजरेटर में लगे एक इलेक्ट्रॉनिक उपकरण के द्वारा अंदर के ताप का सतत मापन किया जाता है। तापमान एक निश्चित बिन्दु तक गिरने यानी कम होने पर विद्युत पथ स्वतः टूट जाता है और विद्युत प्रवाह रुक जाता है। रेफ्रिजरेटर के तापरोधी आवरण के कारण एक लंबे समय तक अंदर का तापमान स्थिर बना रहता है, बाद में धीरे-धीरे बढ़ने लगता है। तापमान एक निश्चित बिन्दु तक बढ़ने पर विद्युत पथ स्वतः पूर्ण हो जाता है, विद्युत प्रवाह चालू हो जाता है और रेफ्रिजरेटर पुनः ठण्डा करने लगता है। इस युक्ति के ज़रिए तापमान को स्थिर रखने की प्रक्रिया में विद्युत व्यय भी कम होता है।

नाभिकीय श्रृंखला क्रिया के विपरीत बी-ज़ेड क्रियाएं अनियंत्रित नहीं होती हैं। आंतरिक मेकेनिज़्म द्वारा बी-ज़ेड क्रिया स्वयं को नियंत्रित करती है। इस क्रिया में परस्पर स्पर्धा करने वाली दो रासायनिक क्रियाएं साथ-साथ चलती हैं और एक दूसरे को नियंत्रण में रखती हैं।

बी-ज़ेड क्रिया का महत्व

रंग परिवर्तन बी-ज़ेड क्रिया की प्रमुख विशेषता है और रसायन शास्त्र को मनोरंजक बनाने के लिए इस विशेषता का उपयोग किया जा सकता है। वैज्ञानिक शोध की दृष्टि से भी बी-ज़ेड क्रियाओं के अध्ययन का महत्व है। इन क्रियाओं में रंगों के विशिष्ट पैटर्न निर्मित होते हैं, समय व स्थान के अनुसार पैटर्न में परिवर्तन होते हैं। इसी प्रकार से ज़ेब्रा के शरीर की धारियों से लेकर शेयर बाज़ार की तेज़ी-मंदी तक विभिन्न प्रणालियों में विशिष्ट पैटर्न देखे जा सकते हैं। शोधकर्ताओं का मत है कि एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न इन प्रणालियों में विशिष्ट पैटर्न के निर्माण के पीछे फीडबैक मेकेनिज़्म ही काम कर रहा होता है।

इन सभी प्रणालियों में बी-ज़ेड प्रणाली अपेक्षाकृत कम जटिल है, इसका अध्ययन करना आसान है। वैज्ञानिकों को विश्वास है कि बी-ज़ेड क्रियाओं के अध्ययन के आधार पर अन्य क्षेत्रों जैसे – जैविक, आर्थिक, सामाजिक आदि की प्रणालियों में पैटर्न निर्माण के रहस्य को उजागर किया जा सकता है।

अभय कर्नाटकी: पुणे विश्वविद्यालय में मेटिरियल साइंस के विद्यार्थी।

अरुण बनपूरकर: पुणे विश्वविद्यलय में मेटिरियल साइंस विभाग में व्याख्याता हैं। साथ ही रासायनिक प्रणाली की विशेष आकृतियों पर शोधकार्य किया है।

प्रियदर्शिनी कर्वे: सिंहगढ़ कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग, पुणे में व्याख्याता हैं। विज्ञान लेखन में रुचि। पुणे से प्रकाशित होने वाली मराठी संदर्भ के संपादन मंडल की सदस्य हैं।

हिन्दी अनुवाद: सुधा हर्डीकर: रसायन-शास्त्र का अध्ययन व अध्यापन किया है। उच्च शिक्षा विभाग से सेवा निवृत। होशंगाबाद में रहती हैं।

यह लेख मराठी संदर्भ के अंक 11, जून-जुलाई 2001, से साभार।

इस विषय में और जानकारी के लिए सायंटिफिक अमेरिकन पत्रिका के जून 1974 व जुलाई 1978 अंक देखें।

पाचन

जे. बी. एस. हाल्डेन

हम जो भी खाद्य पदार्थ खाते हैं वे शरीर की वृद्धि, मरम्मत और शरीर के तापमान को बनाए रखने में और शरीर को हमेशा ऊर्जा से भरपूर बनाए रखने में ही खर्च हो जाते हैं। किस तरह का तंत्र है यह, किस तरह की जटिलताओं से गुज़रतें हैं खाद्य पदार्थ कि हम तोंद पर हाथ फेरते हुए कह पाते हैं: खाया-पिया-पचाया और हो गया।

-में काम करने के लिए, अपने शरीर का तापमान बनाए रखने के लिए, वृद्धि और मरम्मत के लिए भोजन की ज़रूरत होती है। अमीबा जैसे कुछ एक कोशीय जीव तो तमाम किस्म की चीज़ें खा सकते हैं। यही हाल हमारी कुछ श्वेत रक्त कोशिकाओं का भी है जो हमारे शरीर में घुसने वाले विदेशी पदार्थों को बाहर करने तथा मृत ऊतकों का भक्षण करने का काम करती हैं।

खून के मार्फत भोजन

किन्तु हमारी अधिकांश कोशिकाएं विशेषीकृत हैं और इन्हें विशिष्ट किस्म का भोजन ही चाहिए। यह भोजन भी उन्हें खून में घुलित अवस्था में मिलना चाहिए। हमारे पाचन अंगों का काम यही है कि खून में ऐसे विभिन्न भोज्य पदार्थों को निश्चित स्तर पर बनाए रखें। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण भोज्य पदार्थ शर्करा है। यही एकमात्र भोज्य पदार्थ है जिसे हम सही-सही नाप सकते हैं। खून में उपस्थित यह शर्करा ग्लूकोज़ है। यदि खून में इसकी मात्रा एक निश्चित मात्रा से कम हो जाए तो हमारे पेट में चूहे कूदने लगते हैं, आमाशय में संकुचन होता है और हम भूख महसूस करते हैं।

शर्करा हमारे लिए ऊर्जा का प्रमुख

स्रोत है। वैसे वसा भी ऊर्जा का एक स्रोत है। इसके अलावा हमें कई अन्य पदार्थों की ज़रूरत होती है। इनकी संख्या 35 से ज़्यादा और 100 से कम है। आंशिक रूप से इनका उपयोग भी ऊर्जा के स्रोत के रूप में होता है किन्तु इनका मुख्य उपयोग तो नए जीवित पदार्थ बनाने में होता है। मसलन पुरानी चमड़ी के घिसते जाने की वजह से निरंतर नई चमड़ी बनती रहती है।

इन अनिवार्य पदार्थों में से कुछ तो हमारे शरीर में बनाए जा सकते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें हमारा शरीर तैयार नहीं कर सकता। कोई भी हरा पौधा ये सारे पदार्थ बना सकता है; अतः हम इन पदार्थों के लिए हरे पौधों पर या ऐसे जंतुओं के मांस पर आश्रित हैं जो हरे पौधों का भक्षण करते हैं।

ये भोज्य पदार्थ हमारे भोजन में प्रायः विशाल अणुओं के रूप में होते हैं। मसलन, रोटी और आलू में शर्करा के अणु जुड़-जुड़कर एक लंबी शृंखला बना लेते हैं – यह मण्ड है। हम अपने शरीर में शर्करा का संग्रहण ग्लायकोजन नामक एक पदार्थ के रूप में करते हैं। ग्लायकोजन काफी हद तक मण्ड के ही समान होता है किन्तु दोनों की रचनाओं में अंतर होते हैं। अतः ग्लायकोजन का निर्माण करने से पूर्व मण्ड को तोड़ना पड़ता है।

इसी प्रकार सब जंतु व वनस्पति लगभग 20 अमीनो-अम्लों को अलग-अलग ढंग से जोड़कर तरह-तरह के प्रोटीन का निर्माण करते हैं। प्रत्येक प्रजाति में पाए जाने वाले प्रोटीन में अमीनो-अम्लों का क्रम भिन्न-भिन्न होता है। लिहाज़ा यदि हमारे खून में किसी अन्य स्रोत से प्राप्त प्रोटीन डाला जाए तो वह अनुपयोगी होने के अलावा कई मर्तबा विषैला भी होता है। इससे निपटने के लिए हमारे शरीर में व्यवस्था होती है। कई सारी संक्रामक बीमारियों के लक्षण उन विदेशी प्रोटीनों की वजह से होते हैं जो उस बीमारी के बेक्टीरिया उत्पन्न करते हैं। ऐसे कई लक्षण अण्डे की सफेदी जैसे कुछ प्रोटीन्स के इंजेक्शन बार-बार लगाकर भी उत्पन्न किए जा सकते हैं।

बड़े अणु से छोटे अणु

पाचन क्रिया मूलतः अन्य प्रजातियों द्वारा बनाए गए मण्ड व प्रोटीन जैसे विशाल अणुओं को छोटे-छोटे अणुओं में तब्दील करने की क्रिया है जो हमारी आंतों की दीवार से खून में पहुंच सकें; और खून के द्वारा विभिन्न कोशिकाओं तक पहुंच सकें। कोशिकाएं इनका उपयोग करेंगी और इन्हें ऐसे पैटर्न में पुनः जोड़ेंगी जो मनुष्यनुमा हो।

विशाल अणुओं को तोड़ने का यह काम कुछ विशेष प्रोटीन्स द्वारा किया जाता है। ये प्रोटीन शरीर की विभिन्न

ग्रन्थियों में बनकर हमारे पाचन अंगों तक पहुंचाए जाते हैं। इन्हें पाचक रस या पाचक एन्ज़ाइम कहते हैं। एन्ज़ाइम कुछ विलक्षण गुणों के धनी होते हैं।

उदाहरण के लिए हमारा आमाशय एक एंज़ाइम पेप्सीन बनाता है। यह एन्ज़ाइम प्रति घंटे अपने वज़न से पचास गुना प्रोटीन पचा सकता है और ऐसा कुछ घंटों तक करता रह सकता है। और गौरतलब बात यह है कि एक एन्ज़ाइम अपनी प्रतिलिपि बना सकता है। आमाशय की दीवारें पेप्सीन नहीं बनाती। यदि बनाएंगी तो वह पेप्सीन स्वयं उन कोशिकाओं को पचा डालेगा। आमाशय की कोशिकाएं पेप्सीनोजन नामक पदार्थ बनाती हैं। पेप्सीनोजन प्रोटीन का पाचन नहीं करता। किन्तु यदि पेप्सीनोजन में थोड़ा-सा पेप्सीन डाल दिया जाए तो उससे और पेप्सीन बन जाता है, जैसे एक खरगोश घास से, घास खाकर और खरगोश बना देता है।

पेप्सीन जीवित नहीं है किन्तु यह सजीवों के कुछ गुण दर्शाता है। इससे भी अधिक जटिल प्रोटीन सजीवों के और भी अधिक गुण दर्शाते हैं। सजीव और निर्जीव चीज़ों के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं है। पेप्सीन के कुछ गुण प्रयोगशाला में निर्मित पदार्थ भी दर्शाते हैं।

हमारा भोजन आमाशय में कुछ घण्टों तक रुकता है। यहां पेप्सीन व अन्य एंज़ाइम इसे एक गाढ़े सूप में तब्दील कर देते हैं। आमाशय से यह सूप धीरे-धीरे छोटी आंत में पहुंचता है। यह छोटी आंत लगभग 20 फुट की एक नली होती है। इसमें नए एंज़ाइम आते हैं और ये भोजन का पाचन पूरा कर देते हैं। इस क्रिया के द्वारा बने छोटे-छोटे अणु आंत की दीवारों में से खून में पहुंच जाते हैं। शेष बचा हुआ भोजन बड़ी आंत में जाता है। यहां पर अधिकांश पानी सोख लिया जाता है और अपाच्य अवशेष को सान्द्रित करके अंततः शरीर से बाहर कर दिया जाता है।

पाचन नाल की अपनी मांसपेशियां होती हैं। इनमें भोजन को मथने वाली, आगे बढ़ाने वाली, आमाशय व पेट के दोनों सिरों पर उपस्थित वाल्व आदि शामिल हैं। इन मांसपेशियों तथा विभिन्न ग्रंथियों का नियमन व नियंत्रण तंत्रिका तंत्र द्वारा किया जाता है। ये मांसपेशियां व ग्रंथियां हार्मोन के ज़रिए भी परस्पर संवाद करती हैं। हार्मोन रक्त प्रवाह में बहते हैं। ये सब तंत्रिका आवेग मस्तिष्क तक आते हैं किन्तु पाचन तंत्र के दो सिरों – मुंह, गले, आमाशय तथा गुदा के अलावा अन्य स्थानों से आने वाले आवेग कोई संवेदना उत्पन्न नहीं करते। हमें पता चलता है कि कब हमारा आमाशय संकुचन कर रहा है (यानी हमें भूख लगी है) और कब हमारा गुदा भर
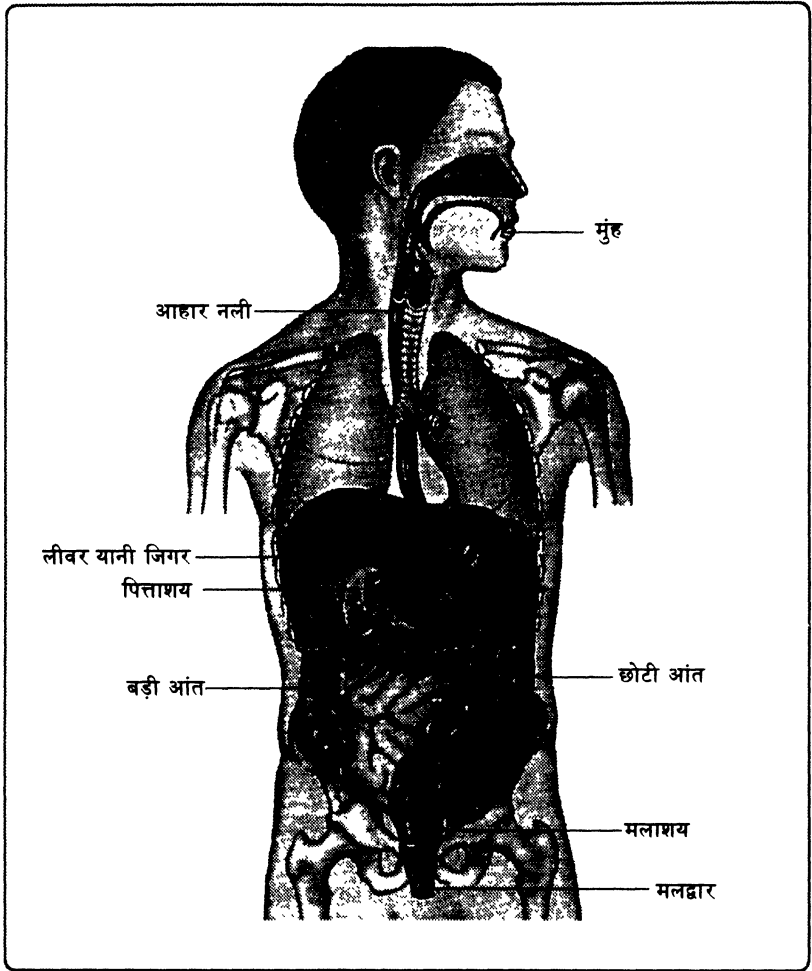
पाचन तंत्र: पाचन क्रिया में एंज़ाइम अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। पाचन के दौरान एमाइलेज़ एंज़ाइम के द्वारा स्टार्च या ग्लाइकोजन को तोड़कर माल्टोज़ या ग्लूकोज़ बनाया जाता है। खून में ग्लूकोज़ का स्तर ऊंचा होने पर अग्नाशय एक हार्मोन छोड़ता है जो उस अतिरिक्त ग्लूकोज़ को वापस ग्लाइकोजन में परिवर्तित कर देता है। और अगर खून में ग्लूकोज़ का स्तर कम हो जाता है तो अग्नाशय एक अलग तरह का हार्मोन छोड़ता है जो संग्रहित ग्लाइकोजन को फिर से ग्लूकोज़ में परिवर्तित कर देता है।

पाचन में एंज़ाइम का योगदान

एंज़ाइम प्रोटीन की काफी बड़ी शृंखलाएं हैं जो शरीर के भीतर होने वाली रासायनिक क्रियाओं में उत्प्रेरक का काम करते हैं। अधिकतर एंज़ाइम सिर्फ एक बार क्रिया करके ही खत्म हो जाते हैं इसलिए ज़रूरी होता है कि शरीर के अंग इन्हें लगातार बनाते रहें। एंज़ाइम को काम करने के लिए अक्सर एक तयशुदा pH मान ज़रूरी है। मानव शरीर में एंज़ाइम किस तरह पाचन में योगदान देते हैं, देखिए कुछ उदाहरण:

[illegible]	[illegible]	[illegible]
टायलिन	लार में	स्टॉर्च का पाचन।
एमाइलेज	विभिन्न अंग	स्टार्च या ग्लाइकोजन को तोड़ता है।
पेप्सीन	आमाशय	प्रोटीन को तोड़ना।
लाइपेज	अग्नाशय	वसा को तोड़ता है।
ट्रिप्सिन	अग्नाशय	प्रोटीन को पेप्टाइड में बदलता है।
इनवरटेज	आंत में	शक्कर को ग्लूकोज और फ्रुक्टोज में तब्दील करता है।
इरेप्सीन	छोटी आंत	पेप्सीन और ट्रिप्सीन द्वारा तोड़े प्रोटीन को और तोड़ता है।
माल्टेज	छोटी आंत	माल्टोज को ग्लूकोज में तब्दील करता है।

(तालिका विभिन्न स्रोतों से संकलित)

गया है। हम तदनुसार उचित कार्यवाही करते हैं। किन्तु आंतों के शेष भागों से आने वाले संदेश तभी संवेदना के स्तर पर पहुंच पाते हैं जब कुछ गड़बड़ हो जाए और हमें दर्द महसूस हो।

लीवर (जिगर) कुछ एंज़ाइमों का निर्माण करता है किन्तु इसका मुख्य काम संग्रह व नियमन का है। आंतों से चलकर खून पहले जिगर में से होकर गुज़रता है और उसके बाद हृदय में पहुंचता है। ज़ाहिर है कि पाचन क्रिया के चलते इस खून में सामान्य की अपेक्षा कहीं ज़्यादा भोज्य पदार्थ (पोषक तत्व) होते हैं। इस खून

में ऐसे भी कई पदार्थ होते हैं जो खून में इकट्ठे होते रहें तो ज़हरीले होंगे। जिगर अतिरिक्त शर्करा और अन्य पोषक तत्वों को खून में से अलग करके अपनी कोशिकाओं में संग्रहित कर लेता है। जब खून में इन पदार्थों की मात्रा मानक से कम हो जाती है तो जिगर द्वारा इन्हें वापस खून में छोड़ा जाता है। इसके अलावा जिगर में अमोनिया तथा पाचन के दौरान उत्पन्न कुछ अन्य ज़हरीले पदार्थों को हानि-रहित पदार्थों में बदला जाता है।

हम अपने पूरे भोजन का उपयोग नहीं करते। भोजन में उपस्थित कुछ रेशे अपचनीय होते हैं। इसके अलावा भोजन के कुछ पोषक तत्वों का उपयोग हमारी आंतों में पाए जाने वाले बेक्टीरिया करते हैं। ये बेक्टीरिया हमारे भोजन की कुछ बर्बादी करते हैं और कुछ दुर्गन्ध युक्त पदार्थ बनाते हैं। किन्तु ये बेक्टीरिया कुछ पोषक पदार्थों का निर्माण भी करते हैं जिनकी हमें ज़रूरत होती है – मसलन विटामिन 'के' जो खून के थक्का बनने में भूमिका अदा करता है। कई बार स्पष्ट रूप से हानिकारक जीव, जैसे कुछ बेक्टीरिया अथवा कृमि हमारी आहार नाल में घुस जाते हैं। मुझे यकीन है कि अगले कुछ वर्षों में शरीर क्रिया विज्ञान और बेक्टीरिया विज्ञान में इतनी तरक्की हो जाएगी कि हम अपनी चमड़ी की तरह अपने अंदरूनी हिस्सों को भी उतना ही स्वच्छ रख पाएंगे। इससे सेहत में काफी सुधार आएगा और कई दुर्गन्धों से निजात मिलेगी। किन्तु, सारे विज्ञापनों के बावजूद हम 'अंदरूनी स्वच्छता' फिलहाल हासिल नहीं कर सकते और यदि करना भी चाहें तो कई विटामिनों की कमी से हम बीमार हो जाएंगे। हम अपनी आंतों के क्रिया-कलापों पर नियंत्रण नहीं कर सकते; किन्तु हम एक संतुलित खुराक के ज़रिए इस बात पर तो नियंत्रण कर ही सकते हैं कि हम मुंह में क्या डालते हैं।

जे. बी. एस. हाल्डेन: (1892-1964) प्रसिद्ध अनुवांशिकी विज्ञानी। विकास (Evolution) के सिद्धांत को स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान। विख्यात विज्ञान लेखक। उनके निबंधों का एक संकलन 'ऑन बीइंग द राइट साइज़' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत निबंध 'वॉट इज़ लाइफ' नामक संकलन से लिया गया है।

अनुवाद: सुशील जोशी: एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम और स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान लेखन एवं अनुवाद भी करते हैं।

आंत और पाचन

आंत एक लंबी नली होती है जो मुंह से शुरू होकर मलद्वार या गुदा में खत्म होती है।

स्वतंत्र मांसपेशियों की लहरदार चाल, आंत के अंदर भोजन की गति को नियंत्रित करती है।

ग्रंथियों में बने एंज़ाइम्स से आंत में भोजन पचता है। फिर धीरे-धीरे भोजन गुदा की ओर बढ़ता है।

आंत एक अर्ध-पारगम्य झिल्ली है। उसमें से भोजन के छोटे अणु, पार निकल जाते हैं। यानी आंत को घेरने वाली रक्त-नलिकाओं द्वारा सोख लिए जाते हैं।

खून में आने के बाद भोजन के छोटे अणु शरीर के अलग-अलग हिस्सों में जा सकते हैं। छोटे अणु आपस में मिलकर, दुबारा बड़े अणु भी बना सकते हैं।

आंत – एक मॉडल

आवश्यक सामान

– पारदर्शी प्लास्टिक की बोतल
– पतली नली
– कार्डशीट या गत्ता
– प्लास्टिक का बीकर
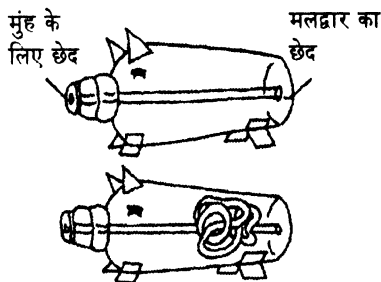
चित्र में दिखाए अनुसार आप एक जानवर का मॉडल बनाएं। आप अपनी मर्ज़ी के अनुसार किसी भी चौपाए जानवर का मॉडल बना सकते हैं। यह सुनिश्चित करें कि पतली नली बोतल के पेंदे के बाहर निकली हो। मॉडल को बेहतर बनाने के लिए उसकी नली में कई छेद करें जिससे अवशोषण या सोखने की क्रिया को अच्छी तरह से समझा जा सके।

जानवर के मॉडल की नली में से पानी को गुज़रने में कितना समय लगता है? इस बारे में छात्रों से चर्चा करें।

आंत की लंबाई

आवश्यक सामान

– लंबी रस्सी का टुकड़ा या कागज़ की पट्टी

अलग-अलग जानवरों की आकृतियों को ज़मीन पर बनाएं। सुतली, रस्सी या कागज़ की पट्टियों से जानवर की आंतों की लंबाई दर्शाएं और उसे जानवर की आंतों के सही स्थान पर गोल-गोल करके लपेट दें। अलग-अलग जीवों की आंतों की लंबाई का नाप लगभग इस प्रकार होगा: खरगोश 1 मीटर, कुत्ता या बिल्ली 2 से 5 मीटर, घोड़ा 30 मीटर, गाय 50 मीटर और मनुष्य 5 मीटर।

छात्रों से पूछें कि विभिन्न जानवरों की आंतों की लंबाई में अंतर क्यों होता है? शाकाहारी प्राणियों की आंत, मांसाहारियों की अपेक्षा, लंबी क्यों होती है?

पाचन तंत्र का मॉडल

मिठाई लपेटने वाला कागज़ (लार की ग्रंथियां)
कीप (मुंह)
टेप या डोरी (उदर के छेद को नियंत्रित करने वाली मांसपेशियां)
रबर नली (भोजन नली)
टेप या डोरी (उदर से आंतों में जाने का मार्ग)
प्लास्टिक की बोतल (यकृत/जिगर)
प्लास्टिक की थैली (पेट या उदर)
प्लास्टिक की बोतल (अग्नाशय)
पुराना बल्ब (पित्ताशय)
पतली प्लास्टिक की नली (जोड़ने वाली नली)
रबर नली (उदर को आंत से जोड़ने वाली नली, पक्वाशय और छोटी आंत)
साइकिल का पुराना ट्यूब (बड़ी आंत)
वॉल्व (अपेंडिक्स)
डोरा (मीसेंट्रीज़)
प्लास्टिक की थैली (मलाशय)
टेप या डोरी (गुदा का सिरा)
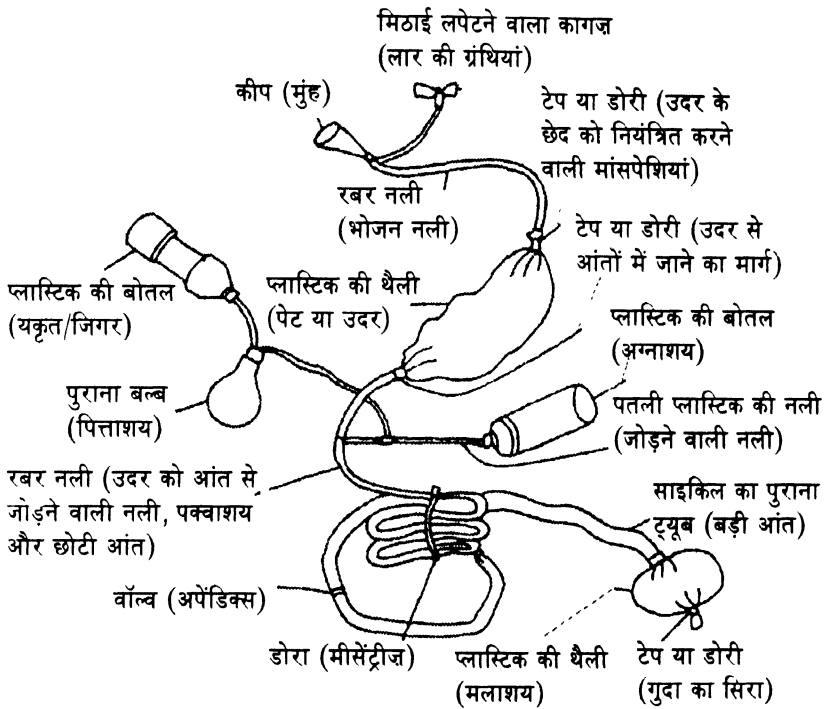
आप चाहें तो चित्र में दिखाई गई साधारण चीज़ों से पाचन तंत्र का एक मॉडल बना सकते हैं।

इस गतिविधि को और आगे बढ़ाने के लिए आप इसके प्रत्येक हिस्से को अलग-अलग रंग सकते हैं और उन पर नाम के लेबल लगा सकते हैं। फिर इस मॉडल को प्रदर्शनी के लिए किसी बोर्ड पर सजा सकते हैं।
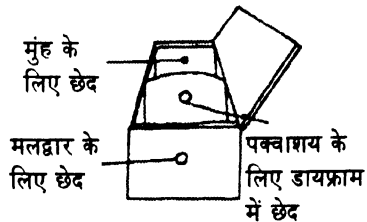
छात्रों से कहें कि वे इस मॉडल को एक डिब्बे के अंदर रखें जिससे यह पता चले कि आंतें, उदर को वक्षस्थल से अलग करने वाली मांसपेशी (यानी डायाफ्राम) में से होकर किस प्रकार गुज़रती हैं।

आंत में भोजन के सरकने का मॉडल

आवश्यक सामान

– एक गुब्बारा
– रबर की नली
– गेंद या फल
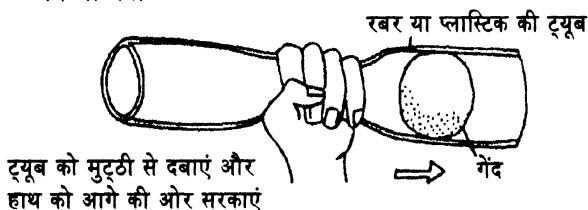
आंत की दीवार में स्थित मांसपेशियों के सिकुड़ने से ही भोजन आंत में आगे की ओर सरकता है। हाथ से दबाने पर गुब्बारे के अंदर की हवा आगे की ओर बढ़ती है। आप ट्यूब में रखी भोजन की गेंद को पीछे से दबाएंगे तो वह आगे की ओर सरकेगी।

छात्रों से इस मॉडल को बनाने के अन्य तरीकों के बारे में पूछें – उदाहरण के लिए, साइकिल की पुरानी ट्यूब का इस्तेमाल करके।

अवशोषण का मॉडल

आवश्यक सामान

– एक पुरानी कमीज़ की आस्तीन
– छोटी चीज़ें जैसे बीज

कमीज़ की आस्तीन में से गिरते पानी के लिए नीचे एक बड़ा बर्तन रखें। अब पानी और मटर के दानों के मिश्रण को आस्तीन की नली में से उड़ेलें। पानी तो आस्तीन के कपड़े में से चूकर बाहर निकल आएगा, परन्तु मटर के दाने (बिना पचा भोजन) आस्तीन में से सीधे बाहर निकल जाएंगे। आपको आस्तीन के निचले सिरे को बांधना पड़ेगा जिससे कि यह प्रक्रिया कुछ धीमी हो जाए।
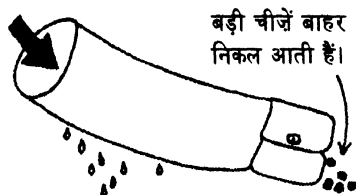
छात्रों से इस मॉडल को और अच्छा बनाने के लिए कहें। इसके लिए वे चाहें तो कमीज़ की आस्तीन की जगह पर अखबार के कागज़ की कई तहें इस्तेमाल कर सकते हैं। (कई विकल्प और सुझाव शायद काम नहीं करें इसलिए यह ज़रूरी है कि उन्हें पहले करके देखा जाए)।

इस गतिविधि के विस्तार के लिए एक अर्ध पारगम्य प्लास्टिक की थैली को आंत की जगह प्रयोग किया जा सकता है। फिर नली में मंड (स्टार्च) और शक्कर के मिश्रण को डालकर देखा जा सकता है कि कौन-सा पदार्थ बाहर निकलता है।

मंड का पाचन

चबाना

आवश्यक सामान
- अलग-अलग प्रकार के खाद्य पदार्थ

छात्रों से कहें कि वे विभिन्न खाद्य पदार्थों को निगलने से पहले खूब देर तक चबाएं। वे पाएंगे कि मंडयुक्त खाना धीरे-धीरे मीठा होता जाएगा। यह इसलिए होगा क्योंकि लार मंड को शक्कर में बदल देती है।

छात्रों से पूछें कि मंडयुक्त खाना काफी देर चबाने के बाद क्यों मीठा लगता है?

एंज़ाइम की क्रिया

आवश्यक सामान
- सोख्ता कागज़
- माचिस की तीली
- मंड का घोल
- आयोडीन का घोल

सोख्ता कागज़ को मंड के घोल से भिगो दें। अब छात्रों से कहें कि वे माचिस की तीली की नोक को अपनी लार में डुबोकर उससे

सोख्ता कागज़ पर अपना नाम लिखें। फिर उस कागज़ को हल्के आयोडीन के घोल में डुबोएं।

छात्रों से कागज़ पर उनके नाम के उभरने का कारण पूछें।

सावधानी: यह सुनिश्चित करें कि छात्र अलग-अलग माचिस की तीलियां इस्तेमाल करें। एक ही तीली के प्रयोग से एक-दूसरे में संक्रामक रोग फैल सकते हैं।

एंज़ाइमों की अनेक प्रक्रियाएं

आवश्यक सामान

– कैमरे की पुरानी फिल्म पट्टियां
– अनानास या पपीते का रस
– सरेस (जिलेटिन)

पुरानी फिल्म की पट्टियां को ताज़े अनानास के रस या पिसे हुए पपीते में डालें। आप पाएंगे कि घोल से फिल्म के ऊपर की जिलेटिन की परत हट जाएगी। काले चांदी के लवण अलग हो जाएंगे और केवल पारदर्शी प्लास्टिक बच जाएगा।
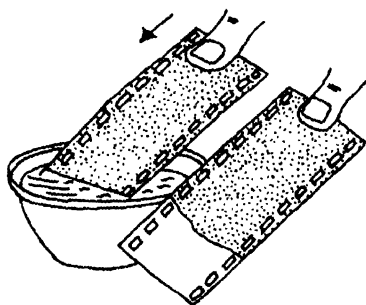
छात्रों से निम्न सवाल पूछें:

अगर सरेस (जिलेटिन) के एक टुकड़े को इन फलों के रस में रखा जाए तो क्या होगा?

अगर आप अनानास या पपीते के रस को उबले अंडे के सफेद भाग या गोश्त पर डालेंगे तो कुछ समय बाद क्या होगा?

पपीता गोश्त को नरम बना देता है? वह असल में गोश्त को क्या करता है?

बच्चे स्कूल से जी क्यों चुराते हैं ?

चंद्र प्रकाश कड़ा

मुल्क में दूर दराज़ के इलाके हों या ठेठ महानगर, शायद ही कोई ऐसी जगह होगी जहां बच्चे स्कूल जाने में आना-कानी न करते हों। प्रतिदिन इसी आनाकानी पर सैकड़ों बच्चे अपने अभिभावकों से बुरी तरह पिटते हैं, डांट खाते हैं और बहुत से दयनीय हालत में स्कूल की दलहीज़ तक लाए जाते हैं। अधिकांश अभिभावक इन घटनाओं को यह सोचकर अनदेखा कर देते हैं कि बच्चे तो इस उम्र में स्कूल जाने के लिए मनाही करते ही हैं क्योंकि उन्हें पढ़ने से ज़्यादा खेलना अच्छा लगता है।

लेकिन सोचने और महसूस करने वाली बात यह है कि बच्चे स्कूल जाना क्यों पसंद नहीं करते। बच्चे स्कूल से क्यों जी चुराते हैं? कहीं स्कूल की कक्षाओं में व्याप्त भय इसका मूल कारण तो नहीं। या मौजूदा सामग्री से खिसियाहट है, जिसमें ज़रा-सी भी दखलअंदाज़ी शिक्षक की नाराज़गी का कारण बन सकती है। क्या स्कूलों का माहौल ऐसा नहीं है जो बच्चों को भा जाए, क्या स्कूल जैसा ही कोई ऐसा वैकल्पिक स्थान हो सकता है जहां बच्चे आज़ादी से आ-जा सकें, आज़ादी से पढ़ सकें, कुछ सीख सकें?

मध्यप्रदेश में टीकमगढ़ में स्थित बाल-साहित्य केन्द्र के साथ काम करते हुए जो अनुभव मिले उनसे इस सवाल के कुछ जवाब तो मिलते दिखते हैं। इसी संदर्भ में स्कूल के नाम से रोने लगने वाले एक बच्चे के बारे में अपने कुछ अनुभव मैं आपके साथ बांटना चाहता हूं।

हमारे बाल-साहित्य केन्द्र में एक लड़का सुब्रत आया था जिसे किताबों से बहुत घृणा थी। उसकी मां एक प्राथमिक विद्यालय की शिक्षिका थी,

और पिता दुकानदार। जिस समय सुब्रत केन्द्र में आया, उस की उम्र सात साल थी। उससे पहले तीन वर्षों के दौरान कितने ही स्कूलों में सुब्रत को ले जाया गया, लेकिन पढ़ना तो दूर की बात, वह बैठने तक को राज़ी नहीं होता था। पिता हताश हो गए पर मां हमेशा इसी उधेड़बुन में लगी रहती कि आखिर सुब्रत को कैसा स्कूल पसंद होगा? उसे अपने साथ स्कूल ले जाती तो सुब्रत चीख-चीखकर आसमान हिला देता। कक्षा का सारा सामान उलट-पुलट देता, जिसकी वजह से कई बार उसकी मां को अपमानित भी होना पड़ा। इससे गुस्से में आकर उसे पीट भी देती पर बाद में बहुत दुखी भी होती। सुब्रत से जब पूछा जाता कि, "तुम क्यों इतना तंग करते हो?" तब रोते बिलखते हुए बस एक ही जवाब देता, "मम्मी हमें स्कूल नहीं जाना, हमें तो बस घर ले चलो।"

कई शिक्षकों ने उसे बहुत समझाया, रंग-बिरंगे खिलौने खेलने को दिए और कइयों ने उसे ज़बरदस्ती बिठाए रखने का प्रयास भी किया। पर उसकी जिद के आगे सभी थककर चुपचाप बैठ गए; लेकिन सुब्रत की मां अभी भी पूरी तरह निराश नहीं हुई थी।

सुब्रत के स्वभाव, उसकी आदतों को समझने के उपरान्त मुझे यह अहसास हो चला था कि सुब्रत को एक ऐसे माहौल की आवश्यकता थी जो स्कूली रवैये से कुछ हट कर हो। प्रेम, सम्मान, स्वतंत्रता एवं अपनत्व के बलबूते पर उसके भीतर जगह बनाई जा सकती थी। उसकी रुचियों को ध्यान में रखकर अगर काम किया जाए तो वह ज़रूर स्कूल आना चाहेगा। पर शुरुआत कैसे की जाए, यह सोच का विषय था।

❋ ❋

केन्द्र में पढ़ने वाले बच्चों से यह रहस्य छुपा नहीं था। सबको पता था कि एक नया लड़का सुब्रत पढ़ने आएगा। अक्सर उनकी आपसी बातचीत का विषय सुब्रत हुआ ही करता था।

आज सुब्रत को आना था। इसलिए सभी बच्चे और बड़े भी, सुब्रत की बाट जोह रहे थे। कोई सुब्रत के लिए मिट्टी के खिलौने पर रंग कर रहा था तो कोई चित्रकारी करने में मग्न था। एक बच्ची गरिमा ने तो उस पर एक पूरी कविता ही लिख ली थी। सुब्रत क्या पहनकर आएगा बच्चों के बीच यह एक चर्चा का विषय बना हुआ था। लेकिन जब सुब्रत आया तो न तो वह ड्रेस पहने था और न ही वज़नी बस्ता टांगे था। अपनी मां का कसकर आंचल पकड़े हुए ज़मीन पर गुस्से से हाथ-पैर पटक रहा था। आंचल को एक पल के लिए भी अपनी पकड़

से ढीला नहीं होने दे रहा था। सारे बच्चे उसके इर्द-गिर्द जमा हो गए तो सुब्रत दुबक कर अपनी मां के पीछे खड़ा हो गया। सहमी-सहमी, पर पूरी तरह चौकन्नी नज़रों से वो बच्चों को देख रहा था।

बच्चों ने खुद के बनाए उपहारों को उसे देना चाहा, पर उसने किसी भी चीज़ को छुआ तक नहीं। उसकी मां ने कहा, "घबराओ नहीं। यह कोई स्कूल नहीं है जो तुम इतना डर रहे हो, यहां तो बच्चे खेलने और अच्छे-अच्छे काम करने आते हैं। देखो वह कितने अच्छे खिलौने बना रहा है, तुम भी बनाओगे?"

उसने बेमन से कहा, "नहीं हमें तो घर ले चलो।" बहुत मुश्किल से वह हम लोगों के साथ अलग-अलग कमरों में गया, जहां बच्चे अपनी रुचि के कार्यों में मग्न थे।

एक कमरे में छोटी उम्र के बच्चे ब्लॉक्स से खेल रहे थे। कोई घर बनाकर उसके सामने बगीचा बनाने की कोशिश करता और जब ब्लॉक्स बिखर जाते तो बुदबुदा कर फिर से जोड़ने की कोशिश करता। पुनीत ने एक गोल घेरे में ब्लॉक्स जमाए और कहने लगा, "देखो हमारा कुआं कितना गहरा है।" शहबाज़ और रूपा मिट्टी के खिलौनों की धूल साफ करके अलमारी में सजा रहे थे। इन्हें केन्द्र में आए कुछ ही समय हुआ था, पर पूरी तरह से मग्न और निश्चिंत होकर अपने काम में लगे हुए थे।

पास के कमरे में कुछ बच्चे तरह-तरह की पत्तियों को उनके गुणधर्म के आधार पर छांटकर ढेरियां बना रहे थे, बड़ी पत्तियां, छोटी पत्तियां, किनारे कटे-फटे हों ऐसी पत्तियां और मोटे डंठल वाली पत्तियां आदि, आदि। यह खोजी दल था जो कुछ समय पहले तमाम प्रकार की पत्तियों का संग्रह करके आया था।

एक और टोली बिल्कुल ध्यान मग्न होकर पुस्तकालय कक्ष में डटी हुई थी। कोई पैर फैलाए कहानियों, कविताओं, चित्रों की किताबें पढ़ रहा था तो कोई अपनी पुस्तक का सारांश लिख रहा था। कुछ बच्चे कहानी, कविता लिखने में व्यस्त थे। एक नन्हा बच्चा सौमित्र कभी चित्रों की किताब को उलट-पलट कर देखता तो कभी चित्रों पर अपनी उंगलियों को फेर कर आड़ी-टेढ़ी रेखाओं के बीच भरे रंगों को छूने का प्रयास करता।

केन्द्र के बच्चों की प्रतिक्रियाएं और उनके क्रियाकलापों ने सुब्रत की मां के हृदय में एक विश्वास जगा दिया था। उन्हें महसूस होने लगा था कि सुब्रत यहां ज़रूर रुकना चाहेगा क्योंकि सुब्रत की नज़र कभी इन बच्चों पर आकर ठहर जाती थी, तो कभी उन दीवारों पर लटके पैनल्स पर, जहां बच्चों ने अपनी मंशा से स्वयं के चित्रों, रचनाओं

एवं चीज़ों को प्रदर्शित किया था। मां के साथ वह भी उस प्रदर्शित सामग्री को बहुत करीब जाकर देख रहा था। चीज़ों को छूकर उसे शायद काफी मज़ा आ रहा था।

कुछ समय पश्चात दोनों ने अगले दिन मिलने का वायदा किया और चल दिए। हमारे केन्द्र के बच्चों के लिए यह सोच का विषय था कि – क्या सुब्रत कल आएगा?

अगले दिन सुब्रत अपनी मां के साथ उस समय आया जब हम बच्चों की टोली के साथ पास के खेतों में बोई गई फसल का अवलोकन एवं विश्लेषण करने जा रहे थे। खेतों में पहुंचकर वह भी बहुत खुश था। और बच्चों की तो खुशी का ठिकाना नहीं था, क्योंकि अधिकांश बच्चों ने मिट्टी में से फूटते हुए अंकुर पहली बार देखे थे। कोई मिट्टी को खोदकर अंकुर की जड़ तक पहुंचने की कोशिश कर रहा था, तो कोई नन्हें पौधों की पत्तियां गिन रहा था। बच्चों ने अपनी डायरी में रिपोर्ट दर्ज की थी –"एक सप्ताह बाद गेहूं का नन्हा पौधा दिखा, जो अंकुर है। कुछ गेहूं के दाने मिट्टी के ऊपर पड़े थे जो अंकुरित नहीं हुए थे मगर फूलकर मोटे हो गए थे।" कुछ सवाल बच्चों को बहुत तंग कर रहे थे कि इतना नन्हा पौधा मिट्टी की इतनी मोटी पर्त तोड़कर बाहर कैसे निकल आता है? और दूसरा सवाल यह था कि गेहूं के दाने कितने लम्बे समय तक सूखे रहते हैं, पर कोमल अंकुर (पौधा) दानों के अंदर ज़िंदा कैसे बना रहता है?

मैना, गौरैया, नीलकंठ, सत-भैया, हरियल, हुद-हुद, पीलक न मालूम कितने ही पक्षी खेतों के ऊपर मंडरा रहे थे। कभी नीलकंठ और हरियल पक्षी कीड़े -मकोड़ों पर यकायक झपट पड़ते और कीड़े को पकड़कर इत्मीनान से किसी बिजली के तार या सूखी टहनी पर बैठकर, उसे अधमरा करके निगलने की बार-बार कोशिश करते। बच्चों का चेहरा कभी कुलबुलाते कीड़े की तड़फ से दुखी हो जाता, तो कभी चालाक और फुर्तीले हरियल पक्षी के करतब से चुलबुला उठता। बच्चे असमंजस में थे कि इतनी दूर से इस हरियल को इतने बारीक कीड़े कैसे दिख जाते हैं? बच्चे भी कम पड़ताली नहीं थे, उन्होंने कुछ मोटे और फूले गेहूं के दानों को मसलकर देखा, तो दानों में से दूधिया पदार्थ बह निकला। उन्होंने जब उसे चखा तो खुशी से उछलने लगे, "अरे, यह तो मीठा और स्वादिष्ट है। अच्छा, तभी ये पक्षी इन्हें खाने के लिए इतनी उछल कूद कर रहे हैं, देखो कैसे लड़ झगड़ रहे हैं।" सुब्रत के लिए यह बिल्कुल पहला अवसर था जब वह अपने इर्द-गिर्द के संसार तथा उसमें शामिल विभिन्न चीज़ों की विचित्रता से परिचित हो रहा था।

हमेशा की तरह आज भी बच्चों ने कुछ चीज़ों का संग्रह किया, जैसे पंख, चमकीले पत्थर, अंकुरित दाने एवं पत्तियां। सुब्रत जब किसी धूप से चमकते पत्थर को देखता तो दौड़कर उसे उठाने का प्रयास करता, पर नज़दीक पहुंचकर वह विचलित हो जाता था। बच्चे अलग-अलग स्थानों पर खड़े होकर उस पत्थर को ढूंढने में उसकी मदद करते। पर यह बात अभी उनकी समझ में नहीं आ रही थी कि नज़दीक पहुंचते ही पत्थर चमकना क्यों बंद कर देते हैं?

※ ※

लगभग एक सप्ताह गुजर चुका था अब तक सुब्रत के कई दोस्त भी बन चुके थे। अब तो वह कुछ देर तक कमरे में चल रही गतिविधि में शामिल हो जाता। और वह चुपके से अपनी मां को आफिस में बैठा देखकर पुनः अपने काम में लग जाता। अब उसे बहुत हद तक यह विश्वास हो चुका था कि उसे यहां रहने में कोई खतरा नहीं है।

वह जब चाहे किसी भी चीज़ को छू सकता है, देख सकता है, किसी से भी बात कर सकता है, जहां मन करे वहां बैठ सकता है, किसी से भी बात कर सकता है। और ताज्जुब की बात तो यह थी कि वह अब लौटते वक्त मां का साथ छोड़ बच्चों के साथ तांगे से घर जाने लगा। अगले दिन बातचीत के समय सब कुछ बताता कि तांगा कहां-कहां होकर उसे घर ले गया। उसने भीड़-भाड़ भरे बाज़ार को देखा, हॉर्न बजाती मोटर गाड़ियों को देखा, भारी गठरीनुमा बस्तों के साथ ड्रेस पहने स्कूल के बच्चों को देखा।

एक दिन कहने लगा, "सर, यहां बच्चे ड्रेस पहन कर क्यों नहीं आते? न ही बच्चे बड़े-बड़े बस्ते लाते हैं?" मैंने कहा, "यह स्कूल नहीं है, इसलिए यहां वह सब नहीं होता जो तुमने रास्ते में देखा।" वह अचरज भरी नज़रों से मुझे कुछ देर तक देखता रहा और यकायक बोला, "सर, यह स्कूल नहीं है तो यहां बहुत सारी किताबें क्यों रखी हैं? इन्हें बाहर फेंक दो।" मुझे ज़रा भी आभास नहीं था कि वह इतना विचित्र प्रश्न करेगा। इसलिए कुछ देर के लिए मैं खुद सोच में पड़ गया कि आखिर कैसे समझाऊं कि ये वे किताबें नहीं हैं जिनको लेकर उसकी खिसियाहट बनी हुई है। मैं कुछ कहता उससे पहले ही वह उकताते हुए बोला, "इन्हें बाहर फेंक दो। हमें किताबें अच्छी नहीं लगती।" मैंने कहा, "किताबों को तुम ही बाहर फेंकोगे, पर हमारी एक शर्त है। जिस किताब को तुम फेंकना चाहोगे, उसे एक बार पूरी खोलकर देखोगे। अगर तुम्हें वाकई पसंद न आए तो ज़रूर फेंक देना।" वह राज़ी हो गया। तब हम दोनों उस

अलमारी के पास गए जिसमें ढेर सारी किताबें रखी हुई थीं। उसने बहुत ही फुर्ती से अलमारी खोली और दो-तीन किताबों को बहुत ही नाराज़ी के साथ उठाया और ज़मीन पर पटक दिया। मैंने कहा, "फेंकने से पहले ज़रा इन्हें खोलकर तो देख लो। शायद अच्छी किताब हो।" वह ज़मीन पर पसरकर किताबों के पेजों को पलटता तो पलटता ही जाता, जब तक कि किताब के सारे पेज न पलट लेता। वह एक के बाद एक पुस्तक उलट-पलट कर देखता रहा, पर उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर किसे बाहर फेंकूं।

सुन्दर चित्रों, सहज शब्दावली में लिखी छोटी-छोटी कहानियां, कविताओं की आकर्षक किताबों ने उसके मन को उद्वेलित कर दिया। किसे फेंके, किसे रखे यह उसकी चिंता का विषय बन चुका था। वह बीच-बीच में से दो-तीन किताबें निकालकर देखने लगा, जैसे वर्षों से पनप रही अरुचिकर धारणा को मिटाना चाह रहा हो? लेकिन वे भी पसंद आने वाली किताबें ही निकली। मैंने कहा क्या बात है? किताबें बाहर नहीं फेंकनी हैं। तब वह लड़ियाते हुए बोला, "नहीं, हम इन्हें घर ले जाएंगे।" और उसने आठ-दस किताबें उठा लीं। मैंने भी मज़े लेते हुए उससे पूछा, "घर ले जाकर इन्हें फाड़ोगे क्या?" वह बोला, "नहीं मम्मी को दिखाएंगे।" मैंने कहा, "ज़रूर ले जाओ, पर संभालकर रखना और जब मन करे वापस ले आना ताकि और बच्चे इन्हें पढ़ सकें।"

अगले दिन वह अपने पिता के साथ आया। वे सुस्ताएं इसके पहले ही उन्हें ज़बरदस्ती कमरों में खींचकर ले गया। कभी खुद के बनाए प्रदर्शित चित्र, मिट्टी के खिलौने एवं पुस्तकालय में रखी ढेर सारी किताबें दिखाता तो कभी बच्चों से मिलवाता। सुब्रत में आए यकायक बदलाव से उसके पिता स्वयं हैरान थे। कल तक यही सुब्रत स्कूल का नाम सुनकर चीख पुकार मचाने लगता था। बढ़िया-से-बढ़िया किताबें खरीदकर लाए, पर सुब्रत की नाराज़ी के कारण किताबों की सूरत बिगड़ गई।

उन्होंने बताया, "सुब्रत ने हमें कल देर रात तक जगाए रखा, बार-बार किताबों की कहानी सुनाने को कहता। जैसे ही एक किताब पूरी होती वह दूसरी हमारे हाथ में थमा देता था। उसकी जिद को मैं चाहते हुए भी दबा नहीं सका। रात को ही उसने मुझसे यह बात मनवा ली थी कि मैं उसका स्कूल देखने चलूंगा। सारा दिन जो भी यहां करता, सब कुछ सुनाता। हमारा ध्यान ज़रा इधर-उधर जाता तो तुनक कर बैठ जाता। सुबह से टिफिन जल्दी लगाओ की रट लगाए रहता। उसको यह चिंता बहुत थी कि कहीं तांगा न निकल जाए। मन में अद्भुत खुशी

इसलिए हो रही है कि इसकी मां ने इसके लिए एक जीवंत स्कूल तलाश कर ही लिया।

"उसकी स्मृति में कैसे सजीव चित्र उभरने लगे हैं, कितनी छोटी-छोटी बातें भी उसको याद आती हैं। अपने चारों ओर के संसार के बिंबों को ग्रहण करते हुए उसकी चेतना में कई अनोखे सवाल उठते हैं, जिन्हें सुनकर हम हैरान रह जाते हैं। अच्छा हुआ जो इसे ज़बरदस्ती किसी तामझाम वाले स्कूल में दाखिला नहीं दिलवाया वरना पढ़ना-लिखना इसक लिए नीरस और उबाऊ काम हो जाता, और शिक्षा इसके लिए पूरी तरह से अंकों की कसौटी पर परखा जाने वाला किताबी काम बनकर रह जाती।"

सुब्रत के पिता की सोच एवं विचारों को सुनकर मुझे ऐसा लगा कि वे भी वर्तमान शैक्षिक व्यवस्था की जर्जर स्थिति से परेशान हैं। शिक्षा के उथलेपन से न सिर्फ नाराज़ हैं, बल्कि चिंतित भी हैं। एक लम्बे समय से महसूस होने वाली पीड़ा आज गुब्बार बनकर फूट पड़ी थी।

काश! हर बच्चे के अभिभावक इनकी तरह बाल मन की पीड़ा को महसूस कर रहे होते, तो शायद बच्चों की इच्छाओं, भावनाओं, आकांक्षाओं को इतना रौंदा नहीं जाता। इसलिए शैक्षिक तंत्र को ही पूरी तरह से दोषी ठहराना उचित नहीं होगा। इस भटकाव भरी अटपटी संरचना में अभिभावक समाज की भी उतनी ही हिस्सेदारी है, जितनी कि शैक्षिक तंत्र की।

सुब्रत की ही तरह एक और लड़की हमारे केन्द्र में आई जिसका नाम पूजा था। पूजा के सामने ज़रा भी ऊंची आवाज़ में बात करते तो वह घबराकर कांपने लगती थी। दोनों हाथों को सामने उठाकर एक ही वाक्य रो-रोकर बोलती थी, "सर, हमें मारियो नहीं।"

इस तरह की स्थितियों का गहराई से विश्लेषण करके देखा जाए तो कक्षा में पढ़ाई जाने वाली सामग्री से ज़्यादा बच्चों को शिक्षक के रवैये से घबराहट कहीं ज़्यादा होती है। पाठ्य सामग्री या उसको पढ़ाने के तरीके बहुत बाद की चीज़ें हैं। साथ-ही-साथ अभिभावकों को भी यह जानना चाहिए कि बच्चे स्कूलों से क्यों पीछा छुड़ाना चाहते हैं? जब अभिभावकों का दबाव बनेगा तो बहुत-सी चीज़ें अपने आप सुधरती जाएंगी। और शायद वर्तमान धुंध में शिक्षा को विलुप्त होने से बचाया जा सकेगा।

चंद्र प्रकाश कड़ा: एकलव्य के भोपाल स्थित स्रोत केन्द्र व बाल-साहित्य संदर्भ पुस्तकालय के साथ काम कर हैं।

सवालीराम ने पूछा सवाल

सवालः आप सबको मालूम है कि जैसे-जैसे हम पहाड़ों पर ऊपर को जाते हैं तो तापमान में गिरावट आने लगती है, ठंडक लगातार बढ़ती जाती है।

तो इस बार हमारा सवाल है कि ऊंचाई पर जाने के साथ तापमान कम क्यों होता जाता है; जबकि धरती से ऊपर उठने का सीधा अर्थ यह है कि हम सूरज के करीब जा रहे होते हैं। इस वजह से तो हमें पहाड़ पर ज़्यादा गरमी महसूस होनी चाहिए!

हो सकता है कि पहली बार पढ़ने पर शायद सवाल अत्यन्त सरल-सा लगे। अगर ऐसा है तो देर किस बात की, कोशिश कीजिए और इस पते पर अपने जवाब हमें लिख भेजिए।

एकलव्य, कोठी बाज़ार, होशंगाबाद – 461 001

ज़रा सिर खुजलाइए
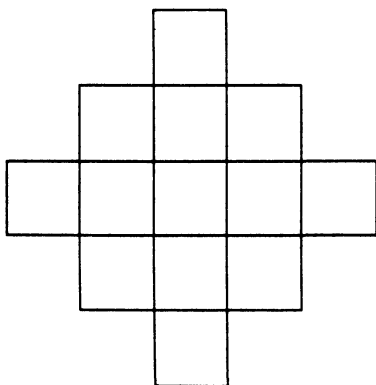
कई वर्गों से मिलकर बनी इस आकृति को ध्यान से देखिए।

इस बार आपको इस आकृति को आपस में जुड़ी हुई तीन सरल रेखाओं से इस तरह काटना है कि आकृति का हर वर्ग किसी-न-किसी रेखा से कट जाए या छू जाए।

तो कोशिश करके देखिए और अपने जवाब हमें जल्द-से-जल्द लिख भेजिए।

सवालीराम

पिछली बार सतीश यादव और सुशील यादव ने सवालीराम से दो सवाल पूछे थे। 'पहाड़ कैसे बने?' और 'दिन में तारे क्यों नहीं दिखाई देते?' इन दोनों सवालों के जवाब यहां दिए जा रहे हैं।

लावा से बना जापान का फ्यूजीयामा पहाड़

पहाड़ कैसे बने

जवाब: पहाड़ का नाम लेते ही स्कूली किताबों में पढ़े हुए ढेर सारे नाम याद आने लगते हैं – अरावली, सतपुड़ा, विंध्याचल, हिमालय, रॉकी, एंडीज़ .... वगैरह। हो सकता है इनमें से कुछ पहाड़ों की आपने सैर भी की होगी। यह तो आपने ज़रूर महसूस किया होगा कि पहाड़ों का ताल्लुक ऊंचाई से है – आसपास की ज़मीनी सतह के मुकाबले पहाड़ ऊंचे होते हैं। कभी-कभी किसी समतल-सपाट गांव या शहर के पास भी छोटी-मोटी ऊंचाइयां दिखती हैं जिसे लोग पहाड़िया, टेकरी, पहाड़ी जैसे नामों से पुकारते हैं। ये टेकरियां हमारे आसपास का बेहद सामान्य-सा तथ्य

ज्वालामुखी उद्‌गारों से मैग्मा, चट्टानों के टुकड़े, गैस आदि धरातल के बाहर निकलते हैं और इनसे अक्सर एक शंकुनुमा पहाड़ का निर्माण होता है। पहाड़ बनने के विभिन्न कारकों में से एक प्रमुख तरीका है यह। पिछले पृष्ठ का फोटो जापान के प्रसिद्ध ज्वालामुखी पहाड़ फुजीयामा का है। बर्फ से ढकी इसकी चोटी से आज भी मैग्मा निकल पड़ता है।

हैं। चाहे होशंगाबाद हो या देवास, ऐसी टेकरियां दिख ही जाती हैं।

पहाड़ कैसे बनते हैं इस पर विचार करने से पहले उनसे संबंधित एक-दो अन्य बातों पर गौर कर लें:

- पहली बात तो यह कि दुनिया के सारे पहाड़ एक ही समय नहीं बने हैं। कुछ पहाड़ 40-50 करोड़ साल से भी ज़्यादा पुराने हैं तो कुछ ऐसे भी हैं जो महज 50 लाख साल पहले बनना शुरू हुए होंगे। लेकिन एक हकीकत यह भी है कि धरती के इतिहास में समय-समय पर पहाड़ बनने का युग आता रहा है जब एक साथ कई जगह पहाड़ बन रहे होते हैं। ऐसा ही एक युग 7-8 करोड़ साल पहले शुरू हुआ था जिसे टर्शरी युग के नाम से जाना जाता है।

- दूसरी बात यह कि यहां पर सिर्फ मोटे तौर पर पहाड़ बनने की प्रक्रियाओं के बारे में बात की जा रही है। वैसे तो हरेक पहाड़ का एक अपना इतिहास होता है कि वह कब बनना शुरू हुआ, किन प्रक्रियाओं से होकर गुज़रा, आदि। लेकिन यहां हम उतनी गहराई में चर्चा नहीं करेंगे।

बहुत ज़्यादा बारीकियों में न जाएं तो यह कहा जा सकता है कि पहाड़ चार-पांच तरीकों से बनते हैं। यही नहीं, किसी पहाड़ के बनने में एक से ज़्यादा प्रक्रियाएं भी शामिल हो सकती हैं।

मैग्मा-लावा से बनने वाले पहाड़

धरती के भीतर कुछ किलोमीटर की गहराई में मैग्मा पाया जाता है। यह मैग्मा कई बार धरती की ऊपरी परत को चीरकर धरातल पर निकल आता है। इस क्रिया को ज्वालामुखी फूटना कहते हैं। ज्वालामुखी से निकलने वाला मैग्मा यदि काफी तरल हुआ तो जल्दी ही आसपास के इलाके में फैल जाएगा। यदि मैग्मा गाढ़ा हो तो जिस छेद से निकल रहा है उसके आसपास इकट्ठा होता जाएगा। मैग्मा निकलने की क्रिया थोड़े-थोड़े अंतराल पर होती रही तो एक शंकुनुमा आकार बन जाएगा। जितनी बार मैग्मा इससे निकलेगा, शंकु की ऊंचाई बढ़ती ही जाएगी। ऐसे पहाड़ पूरी दुनिया में कई जगह मिलते हैं। विशेष तौर पर इटली, जापान और हवाई द्वीप में आज भी इनके क्रियाशील उदाहरण देखे जा सकते हैं।

बाहर निकलने वाला मैग्मा धरातल पर किसी एक छेद से न निकलकर लंबी-लंबी दरारों के मार्फत निकले तो तरल लावा आसपास के इलाकों में फैल जाता है। लावा फैलने की यह घटना बार-बार दोहराई जाती रही तो उस इलाके में सीढ़ीनुमा पहाड़ियां बनने लगती हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण भारत का डेक्कन ट्रेप (दक्कन का पठार) है। ऐसे पहाड़ बंबई के आसपास पश्चिमी घाट शृंखला में भी देखे जा सकते हैं। मैग्मा-लावा से बनने वाले ऐसे मब पहाड़ों की चट्टानें आग्नेय चट्टानें कहलाती हैं।

दरारों व मोड़ों से बनते पहाड़

धरती के भीतर चट्टानी परतों पर विविध दिशाओं से लगने वाले बलों की वजह से कई बार काफी लंबी-लंबी दरारें बन जाती हैं। इन दरारों को फॉल्ट लाइन कहा जाता है। इन दरारों की लंबाई 50-100 किलो-मीटर होना आम बात है। इसी तरह इन दरारों की गहराई कुछ किलोमीटर तक हो सकती है। परन्तु यह ज़रूरी नहीं है कि धरती की सतह पर ये फॉल्ट लाइन स्पष्ट दरारों के रूप में दिखें। कभी-कभी ऐसी दरारों की वजह से बने हुए हिस्सों में से, किसी एक पर लगने वाले बलों के कारण वह हिस्सा ऊपर की ओर उठ जाता है। यह दूसरा कारक है पहाड़ बनने का।

आंतरिक या बाह्य बल लगने वाली प्रक्रिया में एक और किस्म के पहाड़ बनते हैं। किसी विशाल झील या बेसिन में हज़ारों-लाखों सालों तक अवसाद (सेडिमेंट) परत-दर-परत एकत्रित होते
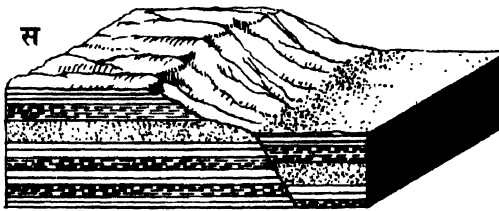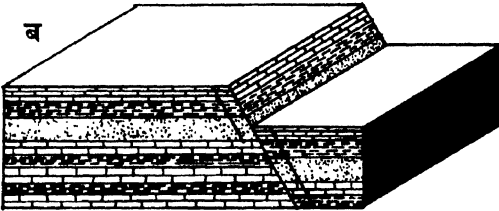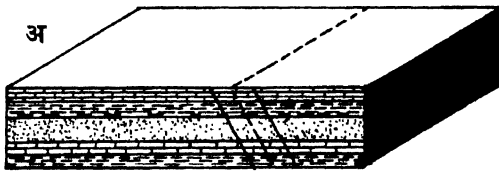
फॉल्ट से बनने वाले पहाड़: धरती की भीतरी चट्टानों पर काम कर रहे बलों के कारण उन में लंबी-लंबी दरारें पड़ जाती हैं। (**चित्र: अ**)

दरारों से विभाजित हिस्सों पर लगने वाले बलों की वजह से चट्टानी परतों का एक हिस्सा ऊपर की ओर उठ गया है जो तेज़ ढाल वाली पहाड़ी जैसा लग रहा है। (**चित्र: ब**)

इस ऊपर उठे हिस्से पर हवा, पानी, तापमान के प्रभाव की वजह से तेज़ ढाल वाली पहाड़ी थोड़ी कटी-फटी सी दिखने लगी है, लेकिन फिर भी आसपास के इलाके की तुलना में यह पहाड़ी ही कहलाएगी। (**चित्र: स**)

फोल्डिंग और कटाव से बने पहाड़: फोल्डिंग से बनने वाले पहाड़ों को समझने के लिए 10-15 टाइपिंग पेपर ले लीजिए। बस इस बात का ध्यान रहे कि पेपर तुड़े-मुड़े न हों। कागज़ की इस थप्पी को किसी समतल सतह पर रखकर दोनों हाथों से इसके लंबे किनारों को एक-दूसरे की ओर दबाकर देखिए क्या होता है। इसी तरह कम लंबाई वाले किनारों को भी दबाकर देखिए कि क्या होता है। दोनों सतहों पर दबाव बराबर होने या दबाव में अंतर होने पर कागज़ की थप्पी से किस तरह की आकृति बनती है? ये जो भी आकृतियां बन रही हैं उन्हें वलन (Folding) कहा जाता है। धरती पर भी परतदार चट्टानों पर लगने वाले बलों की वजह से वलित पहाड़ियां बन जाती हैं। ऐसी ही एक पहाड़ी सामने के पेज पर चित्र:1 में दिखाई गई है।

चित्र:2 में दिखाई गई पहाड़ी एक मरुस्थलीय इलाके की है जहां गर्म दिन, ठंडी रातें, शुष्क हवा की मार सहते हुए कुछ चट्टानें तो प्रतिरोध कर पा रही हैं लेकिन कुछ मुकाबला नहीं कर सकीं जिसकी वजह से वे छोटे-छोटे टुकड़ों में तब्दील होती जा रही हैं। प्रतिरोध कर सकने वाली चट्टानें भी इस मौसम से प्रभावित होती हैं लेकिन कम मात्रा में। परिणाम स्वरूप यहां पहाड़ी ढाल निर्मित हो गया है और एक छोटी पहाड़ी बन गई है।
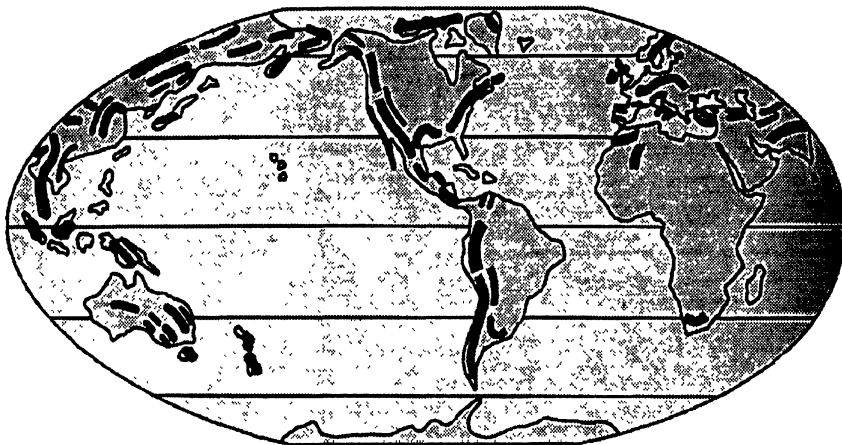
ऊपर: दुनिया के इस नक्शे में मोटी काली लकीरें महाद्वीपों के उन इलाकों को दर्शा रही हैं जहां भूतकाल में प्लेट के किनारों पर पर्वत शृंखलाएं विकसित हुई थीं। चित्र से यह भी साफ झलकता है कि समस्त पर्वत शृंखलाएं आज के महाद्वीपों के किनारों पर स्थित नहीं हैं।
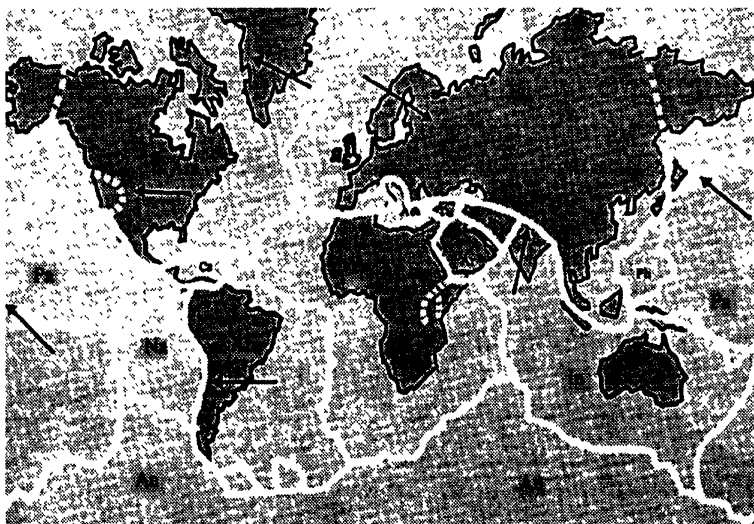
सात मुख्य प्लेट्स और कुछ उप-प्लेट्स में विभाजित धरती का नक्शा। ये प्लेट्स अलग-अलग दिशाओं में खिसक रही हैं। इनके खिसकने की दिशाओं को तीर से दिखाया गया है। सफेद मोटी रेखाएं प्लेट्स की सीमाएं हैं। प्रमुख प्लेट्स इस प्रकार हैं: अफ्रिकन (Af), अमेरिकन (Am), अंटार्कटिक (An), यूरेशियन (Eu), इंडियन (In), पेसेफिक (Pa) और नज़का (Na)।

रहते हैं। इन अवसादों पर लगने वाले बलों की वजह से अवसादों की परतों में मोड़ पड़ जाते हैं जिससे पहाड़ बनते हैं। इनमें पाई जाने वाली चट्टानों को अवसादी या परतदार चट्टानें कहा जाता है।

कभी-कभी अवसादों की क्षैतिज परतों पर इस तरह से बल लगता है कि क्षैतिज परतें टेढ़ी हो जाती हैं, जिससे ऊपर उठी परतें पहाड़ का स्वरूप ले लेती हैं। सतपुड़ा-विंध्याचल की पहाड़ियां भी इन्ही प्रक्रियाओं से गुज़री हैं।

हिमालय जैसी श्रृंखलाएं बनना

अभी तक जिन प्रक्रियाओं की बात की है उनसे 200-500 किलोमीटर के इलाके में फैले पहाडों के बनने की प्रक्रिया तो समझी जा सकती है लेकिन हिमालय, रॉकी, एंडीज़ जैसी सैकड़ों-हज़ारों किलोमीटर तक फैली ऊंची और लंबी पर्वत श्रृंखलाएं किस तरह बनी होंगी यह समझ पाना थोड़ा कठिन है।

भूगोल या भूविज्ञान की किताबों में इस बात का ज़िक्र मिलता है कि धरती की ऊपरी सतह सात प्रमुख प्लेट्स में विभाजित है। साथ दिए नक्शे को देखकर आपको यह अंदाज़ लग जाएगा कि इन प्लेट्स का फैलाव कितना है। प्लेट्स के फैलाव के साथ एक और नक्शा है जिसमें दुनिया के प्रमुख महाद्वीप और प्रमुख पर्वत श्रृंखलाएं दर्शाई गई हैं। यदि आप इन नक्शों पर गौर करें तो पाएंगे कि महाद्वीपों के किनारों पर या प्लेट्स के किनारों पर ही काफी सारी पर्वत श्रृंखलाएं मौजूद हैं। हमारी आज की समझ के अनुसार दुनिया की समस्त विशाल पर्वत श्रृंखलाएं जब कभी भी वे बनना शुरू हुईं, प्लेट्स के किनारों पर ही पैदा हुई हैं।

अगर दो प्लेट्स की सीमाएं समुद्र के अंदर हैं तो उनके आपस में टकराने से उस क्षेत्र में द्वीप उभर सकते हैं जैसा कि जापान के साथ हुआ।

अगर एक प्लेट समुद्री है और दूसरी महाद्वीपीय, तो संभव है कि समुद्रीय प्लेट का पदार्थ महाद्वीप की पपड़ी के नीचे समाता जाएगा। ऐसे क्षेत्रों में काफी उथल-पुथल पाई जाएगी।

परन्तु अगर आपस में टकराने वाली दोनों प्लेट्स पर महाद्वीपीय धरातल है तो आपसी टकराहट में ज़मीन को ऊपर की ओर उठे बिना कोई चारा ही नहीं है। ऐसी ही प्रक्रिया आज से लगभग पांच करोड़ साल पहले शुरू हुई जब भारतीय प्लेट एशियन प्लेट से टकराई जिसकी वजह से आज हमें हिमालय जैसी भीमकाय व विशाल श्रृंखला देखने को मिलती है।

समुद्र में भी पहाड़

महाद्वीपों पर तो काफी सारे पहाड़ दिखाई देते हैं लेकिन समुद्र की तली

पहाड़ बनने का युग

भूवैज्ञानिकों का ऐसा मानना है कि वर्तमान समय में हम जिन सात महाद्वीपों को एक दूसरे से दूर-दूर पूरी पृथ्वी पर फैले देखते हैं वे सब आज से लगभग 18 करोड़ साल पहले आपस में सटे हुए थे। इनके दो समूह थे। पहला था – लारेशिया समूह – उत्तरी अमेरिका, यूरोप, एशिया। दूसरा समूह था – गोंडवाना समूह – आफ्रिका, दक्षिणी अमेरिका, भारत, आस्ट्रेलिया, अंटार्कटिका। लगभग 18 करोड साल पहले इन दोनों ममूहों के भूखंड़ों में दरारें पड़ने लगी और ये टूटकर अलग होने लगे थे।

टर्शरी युग यानी वो दौर जो तकरीबन 7-8 करोड़ साल पहले शुरू होता है। जब भारतीय प्लेट की यूरेशियन प्लेट से, और आफ्रिकन प्लेट की भी यूरेशियन प्लेट से टकराहट शुरू होती है। इसी नरह अमेरिकी प्लेट के दक्षिणी हिस्से की नज़्का प्लेट से ज़ोर आजमाइश शुरू होती है। कुल मिलाकर आप देखेंगे कि इस दौर में एक साथ हिमालय, आल्पस व एंडीज़ बन रहे थे। धरती पर एक साथ इतनी सारी जगहों पर पर्वत शृंखलाएं बनने की प्रक्रिया चल रही थी इसलिए इस दौर को पर्वत निर्माण का दौर कहा जाता है।

संक्षेप में धरती के पिछले 45 करोड़ साल के प्लेट्स के इतिहास को देखा जाए तो इसमें कुछ प्रमुख पड़ाव इस तरह से थे:

42 **करोड़ साल पहले:** उत्तर अमेरिका और यूरोप में टकराव हुआ और परिणाम-स्वरूप नार्वे, पूर्वी ग्रीनलैंड, स्काटलैंड की पर्वत शृंखलाएं बनीं। और अमेरिका-यूरोप आपस में जुड़ गए।

32 **करोड़ साल पहले:** यूरो-अमेरिकन प्लेट की आफ्रिकी प्लेट से टक्कर शुरू हुई। परिणाम-स्वरूप अमेरिका में अल्पेशियन पर्वत शृंखला का निर्माण हुआ।

22.5 **करोड़ साल पहले:** यूरो-अमेरिकन प्लेट की टक्कर एशियाई प्लेट से हुई। परिणाम-स्वरूप यूराल पर्वत शृंखला बन सकी। एक तरफ लारेशिया समूह पूरा बन गया। दूसरी ओर गोंडवाना समूह भी तैयार हो गया था। इन दोनों का सम्मिलित नाम पेंजिया था।

18 **करोड़ साल पहले:** पेंजिया टूटने लगा। और अलग-अलग प्लेट्स अपने-अपने गंतव्यों की ओर चल पड़ी।

7 **करोड़ साल पहले:** अमेरिकन प्लेट में टूट-फूट की वजह से रॉकी पर्वत शृंखला बनी। इसकी उत्पत्ति का कारण बहुत स्पष्ट नहीं है। साथ ही हिमालय, आल्पस और एंडीज़ का निर्माण शुरू हुआ।

भी एकदम समतल सपाट नहीं है। वहां भी खूब सारे पहाड़ पाए जाते हैं – नुकीली चोटियों वाले, सपाट चोटियों वाले, सब तरह के। इतना ही नहीं समुद्र के अंदर लंबी-लंबी पर्वत शृंखलाएं भी मौजूद हैं।

समुद्र के भीतर पाई जाने वाली पर्वत शृंखलाओं का संबंध भी प्लेट के खिसकने से जुड़ा हुआ है। आपस में सटी हुई दो प्लेट जब एक-दूसरे से दूर खिसकने लगती हैं तो दोनों प्लेट के बीच की खाली जगह को नीचे से आने वाला मैग्मा भरता जाता है। इस तरह लावा की लंबी-लंबी पर्वत शृंखलाएं बनती हैं। पिछले पेज पर दिया गया प्लेट्स का मानचित्र ध्यान से देखिए। इस मानचित्र में कई जगह समुद्र के अंदर सफेद मोटी लकीरों के दोनों ओर प्लेट्स एक-दूसरे से दूर जा रही हैं। ऐसे स्थानों पर ये सफेद लकीरें मुख्यत: बेसाल्ट नामक चट्टान से बनी पर्वत शृंखलाएं दिखा रही हैं क्योंकि वहां दूर जाती हुई प्लेट्स के बीच बन रही जगह में मैग्मा के लगातार ऊपर आने की वजह से आज पर्वत शृंखलाएं बनती जा रही हैं, बढ़ती जा रही हैं।

अटलांटिक महासागर की पर्वत शृंखला को मिड अटलांटिक रिज नाम से जाना जाता है जो उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक फैली है। प्रशांत महासागर के पूर्वी हिस्से में ईस्ट पेसेफिक राइज़। हिन्द महासागर में कार्ल्सबर्ग रिज और मिड इंडियन रिज फैली हुई हैं। इन पर्वत शृंखलाओं की तुलना आप हिमालय-आल्पस या रॉकी-एंडीज़ से करेंगे तो समझ में आएगा कि समुद्र के अंदर की कई पर्वत शृंखलाएं धरातल पर मौजूद पहाड़ों से भी बहुत बड़ी हैं।

आखिरी बात यह कि मुहावरों में कहा जाता है कि 'पहाड़ की तरह अटल' लेकिन पहाड़ धरती पर हमेशा बनी रहने वाली संरचना नहीं है। अपना ही अनुभव बताऊं तो तकरीबन 25 साल पहले मेरे घर के पास एक छोटी पहाड़ी होती थी। उस पहाड़ी में छुई मिट्टी (क्ले) बहुतायत में मिलती थी। पिछले कुछ सालों में उस पहाड़ी से अंधा-धुंध तरीके से छुई मिट्टी निकाली गई। ट्रक-के-ट्रक लादे जा रहे हैं। अब वो पहाड़ी दो-तिहाई से ज़्यादा खत्म हो गई है।

ऐसा नहीं है कि पहाड़ों को खतरा सिर्फ इंसानों से ही है – हवा, पानी, बर्फ, तापमान, चट्टानों के खिसकने-धसकने जैसी वजहों से भी ऊंचे पहाड़ धीरे-धीरे सपाट होते जाते हैं।

** प्लेट टेक्टॉनिक्स के संबंध में और अधिक जानकारी के लिए संदर्भ के अंक 14 और 15 में प्रकाशित लेख देखिए।*

दिन में तारे क्यों नहीं दिखाई देते ?

जवाब : यहां आपका आशय शायद यही है कि जिस तरह रात में ढेर सारे तारे दिखाई देते हैं वैसे दिन के आसमान में वे हमें क्यों नहीं दिखते?

दिन में तारों की रोशनी को देख पाने या न देख पाने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका हमारा वायुमंडल निभाता है। हमारे वायुमंडल में गैस, धूलकण, जल वाष्प, अन्य कई तरह के कण आदि होते हैं; जो प्रकाश तरंगों को सोखते हैं, परावर्तित करते हैं, बिखेरते हैं यानी उनकी स्केटरिंग करते हैं व उन्हें आरपार जाने देते हैं। इसी सब की वजह से हमें दिन में केवल सूरज की चकती ही नहीं, बल्कि पूरा आसमान उजला या चमकता हुआ दिखाई देता है। आपको यह जानकर शायद आश्चर्य होगा कि यही कारण है कि चांद, जिसका अपना कोई पृथ्वी जैसा वातावरण नहीं है, की सतह से दिन के समय भी सूरज की प्रकाशित चकती को छोड़ शेष आकाश काला दिखता है, नीला या और किसी रंग का नहीं।

यानी कि दिन के समय पृथ्वी के वातावरण के कारण पूरा आकाश ही कुछ हद तक चमकने लगता है; और चूंकि तारों की रोशनी आसमान की इस चमक के सामने कमज़ोर पड़ जाती है इसलिए दिन में वे हमें आकाश में नहीं दिखाई देते। परन्तु गुरू, शुक्र और मंगल जैसे कुछ ग्रह जो इनसे ज़्यादा चमकते हैं वे ज़रूर यदा-कदा दिन में भी दिख जाते हैं।

सूरज की चमकदार मौजूदगी और

आसमान का रंग कौन-सा

आसमान कौन से रंग का दिखाई देगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि सूर्य किरणों के वर्णक्रम में से कौन-से रंग यानी किस तरंग लंबाई की किरणें वातावरण के कणों ने ज़्यादा सोख ली हैं और कौन-सी सबसे ज़्यादा बिखेर दी गई हैं। और यह सब इससे तय होता है कि सूर्य से आने वाली किरणों के रास्ते में मौजूद कणों की प्रकृति क्या है, उनका साइज़ क्या है, उनकी सघनता कितनी है आदि, आदि। इसीलिए जबकि आमतौर पर दिन में आकाश नीला होता है और सुबह-शाम लाली लिए हुए परन्तु समय-समय पर हमें अन्य रंगों की छटाएं भी दिखती रहती हैं।

स्पेस टेलीस्कोप

वायुमंडल की बाधाओं और कृत्रिम प्रकाश की वजह से होने वाली दिक्कतों को देखते हुए दुनिया भर में खगोल विज्ञान संबंधी अधिकतर वेध-शालाएं ऊंचे स्थानों पर ही बनाई जाती हैं जहां हवा की परत अपेक्षाकृत पतली और सूखी होती है। इतना ही नहीं यह भी कोशिश होती है कि पहाड़ों पर भी ये ऐसे स्थानों पर हों जो चारों ओर से चोटियों से घिरे हों ताकि दूर दूर से कोई रोशनी की किरण पास न फटक सके।

1990 में इन्हीं सब बाधाओं को देखते हुए अंतरिक्ष में टेलीस्कोप स्थापित करने का विचार सामने आया और हब्बल स्पेस टेलीस्कोप को 600 किलोमीटर की ऊंचाई पर स्थापित कर दिया गया, जहां से वो धरती के चारों ओर घूमते हुए सुदूर अंतरिक्ष की तस्वीर ले रहा है। इस टेलीस्कोप की मदद से हम अंतरिक्ष की उन गहराइयों को देख पा रहे हैं जो आज से पहले कभी संभव नहीं था।

नीले आसमान की पृष्ठभूमि में ऐसा क्या होता है कि दिन में तारे देखना दुष्कर हो जाता है इसकी जांच आप एक छोटा-सा प्रयोग करके भी देख सकते हैं। इस प्रयोग के लिए एक गत्ते का डिब्बा लीजिए। उस पर किसी तारामंडल के समान 8-10 महीन छेद बना लीजिए व उन पर सफेद कागज़ चिपका लीजिए।

इस डिब्बे को अंधेरे कमरे में रखकर उसके भीतर बल्ब लगाकर जलाने पर सफेद कागज़ पर आपको तारों जैसे चमकदार बिन्दु दिखाई देने लगेंगे। अब इस बल्ब को इसी तरह जलने दीजिए और कमरे में मौजूद दूसरा बल्ब या ट्यूबलाइट जला लीजिए। आप देखेंगे कि सफेद कागज़ पर दिखने वाले चमकदार बिन्दु या तो गायब हो चुके हैं या एकदम ही धुंधले हो जाते हैं।

इसी प्रक्रिया को एक और उदाहरण से भी समझा जा सकता है। आप सबने महसूस किया होगा कि किसी भी बड़े शहर या कस्बे में रात को उतने तारे नहीं दिखते जितने गांव या जंगल में दिखाई देते हैं। कभी सोचा है कि ऐसा क्यों होता है? आपके आसपास भरपूर रोशनी हो तो आपको काफी गिने-चुने तारे दिखाई देंगे। लेकिन यदि पांच मिनट के लिए पूरे शहर की बिजली गुल हो जाए तो देखिए आपको पहले से कहीं ज़्यादा तारों वाला आसमान दिख रहा होगा। ऐसे ही महानगरों में तो रात को सड़कों और मकानों पर मौजूद तेज़ रोशनी की वजह से क्षैतिज

से 20-30 डिग्री ऊपर तक तारों का कोई नामो-निशान ही नहीं दिखता। दिन के समय तो सूरज की रोशनी वायुमंडल के कारण बाधा उत्पन्न करती है लेकिन रात के समय बिजली से जलने वाले बल्ब भी वैसा ही काम करते हैं।

एक समय तक यह माना जाता था कि किसी कुएं या खदान में से या ऊंची-ऊंची इमारतों के बीच में खड़े होकर दिन का आसमान निहारा जाए तो तारे देख पाना संभव है। परन्तु यह सही नहीं है। सैद्धांतिक रूप से देखा जाए तो आप कुएं या खदान में बैठे हों या ऊंची इमारतों के साए तले हों, आपके ऊपर वातावरण की तह तो वैसी की वैसी बनी हुई है।

परन्तु इस बात के प्रमाण ज़रूर मिलते हैं कि ऊंचे पहाड़ों की चोटियों से कभी-कभार दिन के समय भी अत्यन्त चमकीले तारे दिख जाते हैं। ऐसा ही एक उल्लेख तुर्की के माउंट अरारात (ऊंचाई 5000 मीटर) के बारे में मिलता है जहां से दोपहर के दो बजे गहरे नीले आसमान में कुछ चमकीले तारे देखे गए थे। ऊंचे पहाड़ों पर से तो दिन में कुछ चमकीले तारे दिखाई दे जाने का कारण समझ में आता है क्योंकि वायुमंडल की घनी, जलवाष्प युक्त और धूलमय परत तो नीचे ही होती है। इसलिए ऊंची चोटियों के ऊपर का आसमान अपेक्षाकृत कम चमकीला होना चाहिए।

■■■■■■■■■■■

कां... कां... कां.. कौआ

कौओं की ज़िंदगी पर शोध

माधव गाडगिल

प्रोजेक्ट लाइफस्केप हिन्दुस्त में जीव विज्ञान व अन्य संबंधित विषयों में जीवों के अध्यापन को बढ़ावा देने के लिए 1500 प्रजातियों व विशेष तौर पर पहचाने गए अन्य विस्तृत समूहों के अध्ययन की योजना है। अपने भड़कीले रंगों, मधुर आवाज़, अंगूठे के साइज़ की फूल सूंघनी से लेकर विशालकाय सारस और मनुष्य के जितने बड़े आकार वाले पक्षियों ने लोगों को हमेशा चकित किया है। यहां तक कि इनकी वजह से ही शायद मनुष्य की हवा पर सवार होने की इच्छा रही है। पक्षियों को अक्सर देवताओं

की सवारी का दर्जा दिया गया है और इस वजह से कइयों को संरक्षण दिया जाता है। परन्तु दूसरी ओर मांस व पंखों के लिए बड़े पैमाने पर उनका शिकार होता है, और मनोरंजन के लिए इन्हें पिंजरे में कैद करके रखा जाता है। इन पर इतना सारा ध्यान केन्द्रित होने की वजह से ही शायद समस्त प्राणियों में सबसे अधिक अध्ययन पक्षियों के बारे में ही किया गया है, और दुनिया के हर कोने में पक्षियों का अध्ययन करने वाले हज़ारों लोग मौजूद हैं।

इसलिए विद्यार्थियों को अपने आसपास की सृष्टि का अवलोकन करने और प्रकृति की किताब से अपने बल पर बहुत कुछ सीखने का एक आदर्श मौका पक्षियों के अवलोकन के ज़रिए मिल सकता है। विज्ञान के जो पेशेवर अध्ययेता नहीं हैं उन्हें भी पक्षियों के अध्ययन के माध्यम से वैज्ञानिक ज्ञान के भंडार में योगदान देने का अतुल्य मौका मिल जाता है। हमारे आसपास पाए जाने वाली पक्षी प्रजातियों में प्रचुर विविधता है। केवल भारतीय प्रायद्वीप में, जो धरती के क्षेत्रफल का महज 2 प्रतिशत है – 1237 पक्षी प्रजातियां पाई जाती हैं। ये पक्षी -प्रजातियों की कुल संख्या का 12.5 प्रतिशत है। किसी भी शिक्षण संस्थान के आसपास हम आसानी से 50-60 प्रजातियां देख सकते हैं। इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ सांइस, बैंगलोर परिसर में कुल 140 प्रजातियों की उपस्थिति दर्ज की गई है। इन सभी प्रजातियों में से हम यहां अपना ध्यान 'घरेलू कौओं' पर केन्द्रित करेंगे। यह देश भर में पाया जाता है और मनुष्य का एक पुराना सहचर है।

घरेलू कौआ (काग)
कॉरवस स्प्लेंडेंस: कॉरविडे

अधिकतर कौए काले होते हैं। मध्यम आकार के इस पक्षी की पूंछ उसके पंखों की तुलना में छोटी होती है जो पीठ की ओर गोलाई लिए होती है। इनकी चोंच मज़बूत होती है और इसके बीच तक सीधे तने हुए बाल होते हैं। घरेलू कौए की गर्दन, ऊपरी छाती, ऊपरी पीठ धूसर (भूरी) होती है जबकि शरीर के अन्य सब हिस्सों का रंग चमकीला काला होता है।

संबंधित प्रजातियां

भारत में कौए की चार स्थानीय प्रजातियां पाई जाती हैं। इनमें से दो – घरेलू कौआ और जंगली कौआ देश भर में हर जगह मिलते हैं। 'जैकडॉ' घरेलू कौए से काफी मिलता-जुलता
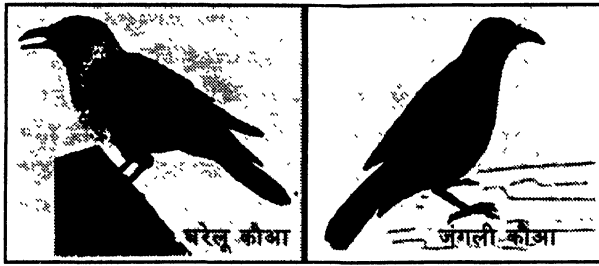
आमतौर पर हमारे आसपास आसानी से दिखाई दे जाने वाले कौओं में से एक घरेलू कौआ और जंगली कौआ। जिनके रंग-रूप में थोड़ा-सा फर्क होता है।

है, परन्तु इसका आकार कुछ छोटा, पीठ का हिस्सा कुछ कम भूरा और आंखों के आसपास सफेद छाप होती है। जैकडॉ को कश्मीर व उत्तरी पंजाब में ही देखा जा सकता है। जंगली कौए की घरेलू कौए से अलग पहचान यह होती है कि उसकी गर्दन व नीचे की छाती पर बिल्कुल भी भूरापन नहीं होता। चौथी जाति 'रैवेन' है, यह ज ली कौए से मिलता-जुलता है परन्तु आकार में उससे बड़ा होता है और जंगली कौए की तरह कांव-कांव नहीं करता। 'प्रूक-प्रूक' की भारी-कर्कश आवाज़ इसे अलग पहचान देती है। रैवन सिर्फ पंजाब के कुछ हिस्सों, पश्चिमी राजस्थान व कच्छ में पाया जाता है। कौए की इन चारों प्रजातियों में नर व मादा एक जैसे होते हैं। बच्चे भी वैसे ही दिखते हैं परन्तु कम चमकीली पीठ (प्लुमेज) से पहचाने जा सकते हैं। देश के उत्तर-पश्चिमी हिस्से में कौए की दो अतिथि प्रजातियां भी दिखती हैं। इन्हें सिर्फ जाड़े में देखा जा सकता है। जंगली कौए की सी शक्ल वाले इन मेहमानों को 'रुक' और 'कैरिअन' के नाम से जाना जाता है।

वितरण

घरेलू कौए की चार उपजातियां हैं जो काश्मीर, उत्तरी पंजाब, श्रीलंका, मालदीव तथा म्यांमार के पश्चिमी हिस्से को छोड़कर तटीय व दक्षिणी ईरान सहित पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में सब जगह पाई जाती हैं। जांजीबार, मॉरीशस और अदन में भी इन्हें लाया गया और ये वहां भी बस गए हैं।

इन प्रजातियों की वितरण सीमाओं के आसपास कौओं के वितरण का अध्ययन करने पर, विद्यार्थियों को उन कारकों को ढूंढने का एक अभूतपूर्व मौका मिल सकता है जो कौओं की चारों प्रजातियों की आबादी पट्टियां

का निर्धारण करते हैं। मसलन पश्चिमी राजस्थान में कितनी कम वर्षा होने पर जंगली कौए को विस्थापित कर रैवेन पाया जाएगा। ऐसा ही उदाहरण घरेलू कौए की केरल में बसी उप-प्रजातियों में है, यहां पर सीलॉन उपप्रजाति कार्वस स्प्लेंडेन्स स्प्लेंडेन्स को विस्थापित कर देती है। इन दोनों उपप्रजातियों में अंतर यह है कि सीलॉन उपप्रजाति की गर्दन, ऊपरी छाती और ऊपरी पीठ के पंख गहरे भूरे होते हैं।

कर्नाटक व केरल सीमा पर इन दोनों उपप्रजातियों के बीच उत्तरी सीमा रेखा और पश्चिमी घाट में केरल व तमिलनाडु की सीमा पर पूर्वी सीमा रेखा खींचना व उसका अध्ययन करना एक रोचक गतिविधि हो सकती है। यह सीमा रेखा कितनी स्पष्ट है? क्या इन दोनों सीमाओं के आसपास ऐसे हिस्से भी हैं जहां दोनों उपप्रजातियां पाई जाती हैं और इनमें आपस में प्रजनन होता है? इस तरह के सवालों को ध्यान में रखकर जीव विज्ञान के छात्र-शिक्षक और शौकिया पक्षी प्रेमी इन क्षेत्रों का व्यवस्थित अवलोकन करें तो महत्वपूर्ण व रोचक वैज्ञानिक जानकारियां हासिल हो सकती हैं।

पर्यावास का चुनाव

घरेलू कौआ मनुष्य का सहभोजी है। जहां आदमी का बसेरा है घरेलू कौआ वहां मौजूद होता है। वह शहर व महानगर में तो बहुतेरी संख्या में मनुष्य की आबादी के साथ-साथ पाया ही जाता है, परन्तु अगर मनुष्य रहने के लिए जंगल और रेगिस्तान का चुनाव करता है तो कौआ वहां भी जाकर बस जाता है।

जंगली कौआ अपमार्जन (मुर्दाखोर, स्केवेंजर) की भूमिका में शहरी बसाहटों में भी पहुंच जाता है, लेकिन उसका असली बसेरा जंगल ही है। परन्तु पेड़-पौधों से भरे इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस, बैंगलोर के परिसर में घेरलू कौओं की अपेक्षा जंगली कौओं की बहुलता है।

चूंकि इन दोनों प्रजातियों की बसाहट भारत के समस्त प्रायद्वीपीय इलाके में साथ-साथ देखी गई है इसलिए जहां ग्रामीण-शहरी-जंगली इलाके एक-दूसरे में बदलते हैं, ऐसे क्षेत्रों में इनके अनुपातों व फैलाव का अध्ययन रुचिकर होगा। क्या मनुष्य की बसाहट की कोई सीमा है जिससे घनी बसाहट होने पर जंगली कौआ अपना स्थान घरेलू कौए को दे देता है? और क्या यह सीमा देश भर में वही है यानी स्थाई है?

जनसंख्या, प्रवास व भ्रमण

हमें अभी तक भी इन पक्षियों के घनत्व और इनके भ्रमण पैटर्न के बारे में स्पष्ट रूप से पता नहीं है। लेकिन

यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि हिमालय के इलाके को छोड़ दें जहां ये गर्मियों में ऊंचाई पर चले जाते हैं और ठंड में नीचे उतर आते हैं – घरेलू कौआ अपना पूरा जीवन एक ही इलाके में बिताता है। इसलिए अगर वे एकदम स्थानीय पक्षियों में से एक हैं फिर भी कौए शायद रोज़ाना एक खासी दूरी तय करते हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि वे कुछ सीमित इलाकों में ही अपने घने झुंड के साथ रात बिताते हैं परन्तु दिन में वे भोजन की तलाश में अलग-अलग इलाकों में फैल जाते हैं। कौओं के अलावा सामुदायिक बसेरे की खासियत कई अन्य सामान्य पक्षियों जैसे कि भारतीय मैना, तोता, हरे पत्रिंगा और बगुलों में भी होती है। कई प्रजातियां तो अपना बसेरा एक-दूसरे के साथ-साथ रखती हैं।

इसका एक उदाहरण इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस के परिसर में मुख्य इमारत के पास के घने वृक्षों पर देखने को मिलता है जहां भारतीय मैना, जंगली मैना, घरेलू और जंगली कौए झुंडों में साथ-साथ रहते हैं यानी रात को सोते हैं। और यह उनका परंपरागत बसेरा रहा है – कम-से-कम 1973 से जब मैंने इस संस्थान में काम करना शुरू किया। उन दिनों इस समूह में ब्राह्मणी मैना भी दिखती थी जो अब संभवत: कीटनाशकों के अतिशय प्रयोग के चलते लुप्त हो गई।

पक्षियों का सामुदायिक बसेरा और उनकी रोज़ की उड़ान जीव विज्ञान के छात्रों और शौकिया पक्षी प्रेमियों के लिए विज्ञान में योगदान का बेहतरीन मौका उपलब्ध कराते हैं। घरेलू कौए जैसी प्रजाति के बसेरे बिल्कुल स्पष्ट और निश्चित होते हैं। इन इलाकों को आसानी से पहचाना जा सकता है। इन बसेरों के अवलोकन से उन पक्षियों की गिनती भी की जा सकती है क्योंकि शाम ढलने पर हरेक दिशा से पक्षियों का लौटना तय होता है। इसके लिए बसेरे का घेरा बनाकर आठ से दस लोगों को बैठना भर होता है। हां, यह स्पष्ट होना चाहिए कि किन जगहों के बीच के पक्षियों की गिनती कौन कर रहा है। कुछ पक्षी अवश्य ही बसेरे में आने से पहले इधर-उधर मंडराते हैं लेकिन यह कोई ज़्यादा परेशानी की बात नहीं है। दो-तीन बार अपनी गिनती को दोहराकर हम सांख्यिकीय घटबढ़ का ज़िक्र करते हुए, उनकी संख्या का काफी सटीक अनुमान लगा सकेंगे।

भारत में पक्षियों की संख्या, विभिन्न इलाकों में उनकी आबादी का घनत्व, उनके आवास व सालभर के दौरान उनकी संख्या में बदलाव के बारे में बहुत निश्चित जानकारी नहीं है। जो सीमित जानकारी है वह पानी के स्रोतों के किनारे पंहुचने वाले प्रवासी पक्षियों के मामले में ही है। जबकि

पक्षियों के सामुदायिक बसेरों की गिनती के ज़रिए उनकी संख्या व अन्य जानकारियां हासिल की जा सकती हैं; ऐसी जानकारियां जो पक्षियों की आबादी की पारिस्थितिकी समझने में नए योगदान दे सकती हैं। जीव विज्ञान के विद्यार्थी, शिक्षक और अन्य पक्षी प्रेमियों के लिए यह कोई मुश्किल काम नहीं है। अभी तक पक्षी -संख्या-पारिस्थितिकी पर जो भी भरोसेमंद आंकड़े हैं वे ठंडे प्रदेशों के अध्ययन पर आधारित हैं इसलिए यहां पर हमारा अध्ययन नई वैज्ञानिक दृष्टि विकसित करने में मददगार हो सकता है। यह पक्षियों के संरक्षण संबंधी मुद्दे में भी सहायक होगा, मसलन कीट भक्षी ब्राह्मणी मैना की संख्या में कमी को समझना।

सामुदायिक बसर के फायदे

आप लोगों के साथ मैं अपना एक अनुभव बांटना चाहता हूं, यह जताने के लिए कि कैसे एक साधारण से अवलोकन से विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकल सकते हैं। 1971-72 के दौरान पूना के फिल्म व टेलीविज़न संस्थान के परिसर में मैंने भारतीय मैना, जंगली कौए और घरेलू कौओं के मिले-जुले सामूहिक बसेरों का कई महीनों तक लगातार अवलोकन किया। मेरे मन में बरबस यह जिज्ञासा होती थी कि ऐसे सामूहिक बसेरे का फायदा क्या हो सकता है। यह सुझाया जाता रहा है कि प्रचूर भोजन के स्रोतों के बारे में सूचनाओं का आदान-प्रदान एक फायदेमंद कारण हो सकता है। इसलिए जिन पक्षियों को पिछले दिन भोजन के अच्छे स्रोत मिल गए हों वे अगले दिन तड़के ही भोजन के नए ठिकाने की ओर जल्दी से उड़ चलते हैं। पिछले दिन जिन पक्षियों को पर्याप्त भोजन नहीं मिला था वे इनके पीछे-पीछे चल पड़ते हैं।

परन्तु इस कारण से इस बात का कोई जवाब नहीं मिलता कि अलग-अलग खाद्यरुचियों वाली प्रजातियां साथ-साथ क्यों रहती हैं – मसलन घरेलू कौए और जंगली मैना सामुदायिक बसेरे में साथ-साथ क्यों रहते हैं। तो संभवतः हम शिकारियों के चंगुल में फंस जाने का खतरा कम होने के कारण की तरफ बढ़ सकते हैं क्योंकि सामूहिक बसेरे यानी बड़े झुंड में इस खतरे के प्रति सजग रहने का एक ज़्यादा कारगर तंत्र बन सकता है।

अपने इस अवलोकन के दौरान एक दिन अचानक मैंने यह नोट किया कि जंगली व घरेलू कौए का झुंड, मैना के झुंड को पीछे छोड़कर 300 मीटर दूर एक पेड़ पर जाकर जम गया। चार दिन बाद मैना का झुंड भी कौओं के बसेरे में जा मिला। इससे समझ में

आया कि मिले-जुले सामुदायिक बसेरे केवल इस वजह से नहीं होते क्योंकि इसके लिए उपयुक्त जगहें कम मिलती हैं; बल्कि इसलिए क्योंकि ऐसा करने से शिकारी के चंगुल में फंसने का खतरा कम हो जाता है। चूंकि कुछ वैज्ञानिकों ने इस दूसरी संभावना को नकार दिया था, इसलिए मेरे इन साधारण अवलोकनों के आधार पर पक्षियों की एक जानी -मानी पत्रिका 'इबिस' में एक रुचिकर पर्चा छप पाया।

दैनिक (जैविक लय)

घरेलू कौओं के सामूहिक बसेरे के अध्ययन से उनकी जैविक लय (बायोलोजिकल रिधम) को समझने जैसे अनेक मज़ेदार वैज्ञानिक प्रश्नों की तरफ बढ़ा जा सकता है। कौए अपने बसेरों से तड़के छोटे-छोटे समूहों में जल्दी से रवाना हो जाते हैं। शाम को वे बिखरे-बिखरे समूहों में एक-एक करके देर तक आते रहते हैं। यह सवाल कोई पूछ सकता है कि क्या उनका सुबह निकलना और शाम को लौटना एक निश्चित समय से तय होता है – क्या वे जून की अपेक्षा दिसंबर में सुबह अधिक अंधेरा रहते ही निकल जाते हैं? या फिर कि सूर्योदय व उनके रवाना होने के समय में कुछ निश्चित संबंध होता है – क्या वे जून की बनिस्बत दिसंबर में सुबह कुछ देर से निकलते हैं। अथवा उनके निकलने का समय प्रकाश की किसी निश्चित तीव्रता से संबंधित है – अगर ऐसा है तो क्या वे जून में भी बादल वाले और खुले दिनों में अलग-अलग समय पर निकलते हैं। घोंसला बनाने की उनकी प्रक्रिया सामूहिक बसेरे को किस तरह प्रभावित करती है? अंडे अथवा चूज़े का रख-रखाव करते समय क्या नर और मादा दोनों पक्षी रात को घोंसले में रहते हैं या उनमें से कोई एक? इस तरह के अनेकों सवालों को सही उत्तर का इंतज़ार है।

सामाजिक व्यवहार

कौआ बेहद सामाजिक पक्षी है। उसे हमेशा जोड़े में, छोटे-बड़े समूहों में देखा जा सकता है। बड़ी संख्या में सामुदायिक बसेरे में रहना भी इसी का प्रमाण है। लेकिन घोंसला वह अलग-अलग ही बनाता है। फिर भी हम इस परिचित पक्षी के सामान्य व्यवहार के बारे में बहुत से साधारण तथ्य नहीं जानते। आधिकारिक 'हैंडबुक ऑफ बर्डस ऑफ इंडिया एंड पाकिस्तान' के मुताबिक वह आजीवन अपना जोड़ा नहीं बदलता। साथ ही उसमें लिखा है कि समागम करते हुए कौओं के पास अक्सर दूसरे कौओं की भीड़ इकट्ठी हो जाती है व उन पर वे हल्ला बोल देते हैं। ऐसे में इस बात का भी पारिस्थितिक प्रमाण मिलता है कि संभोग के दौरान उनमें काफी

अदला-बदली होती रहती है। ये दोनों ही तथ्य परस्पर विरोधी हैं, इसलिए यह पता करना रुचिकर होगा कि क्या कौए जीवन भर एक ही जोड़ा बनाए रखते हैं।

संवाद/संचार/संप्रेषण

चालाक, सामाजिक और मिलनसार घरेलू कौए आपस में लगातार गपशप करते रहते हैं। वे या तो तीखी आवाज़ में क्वा-क्वा अथवा अनुनासिक ध्वनि में कांव-कांव करते रहते हैं। इसके अलावा वे अलग-अलग मौकों पर बहुत सारी अन्य ध्वनियां निकालते हैं। जब वे आराम कर रहे हों तो उस वक्त वे संगीतमय ढंग से कुर्र...–कुर्र... करते हैं। धीमी क्री-क्री-क्री की आवाज़ इसका संकेत है कि मादा सहवास की तैयारी में है। सालिम अली बताते हैं कि सामूहिक बसेरों में रात को अचानक एक खूब लंबी-सी 'काव' की आवाज़ आती है, जो सामान्यत: दिन में कभी भी नहीं सुनाई देती – शायद कौआ कोई बुरा सपना देख रहा होगा! यानी कि कौओं की विभिन्न तरह की बोलियों को रिकॉर्ड करना व उनके अर्थ पता लगाने जैसे काम की भी संभावना है। उदाहरण के लिए भोजन की जगह की सूचना लेने-देने में कौए बहुत ही मुस्तैद होते हैं।

बारिश शुरू होने पर जब पंखवाली चींटियां या दीमक हज़ारों की संख्या में अपने बिलों से बाहर आती हैं तो दसियों तो क्या सैकड़ों कौओं को इस समृद्ध भोजन स्रोत के पास इकट्ठा होने में बमुश्किल दस मिनट का समय लगता है। क्या भोजन स्रोत पता लगने पर कोई विशेष आवाज़ लगाई जाती है? अथवा उड़ान के विशेष तरीकों/पैटर्न से ऐसी सूचनाएं संप्रेषित की जाती हैं?

घरेलू कौए गज़ब के कलाबाज़ होते हैं। शहरी इलाकों में शाम को विशेष तौर पर जब तेज़ हवा चल रही हो तो वे अक्सर किसी ऊंचे पेड़ पर या ऊंची इमारत पर जमा हो जाते हैं। फिर उनका विविध तरह का खेल शुरू होता है मसलन – मौके का तकाज़ा देखते हुए किसी विशेष जगह पर कब्ज़ा जमाने की कोशिश, कलाबाज़ियों में एक-दूसरे को मात देने की कोशिश – पंख सिकोड़कर आकाश में तेज़ी से डाइव लगाना या एकदम झटके से मुड़ कर ऊपर की ओर उठ जाना। मोड़ लेने, करवट लेकर गिरने, कलाबाज़ी खाने, गोल-गोल घूमने जैसी उड़ानों के करतब में वे एक-दूसरे से होड़ करते हैं। क्या उनकी इस तरह की हरकतों का कोई खास मतलब होता है, उदाहरण के लिए अपने संगी के चुनाव में? क्या घोंसला बनाने के मौसम में उनकी आवाज़ उत्तरोतर ऊंची होती जाती है? ऐसे अनेकों सवाल हैं जिनके उत्तर आने बाकी हैं।
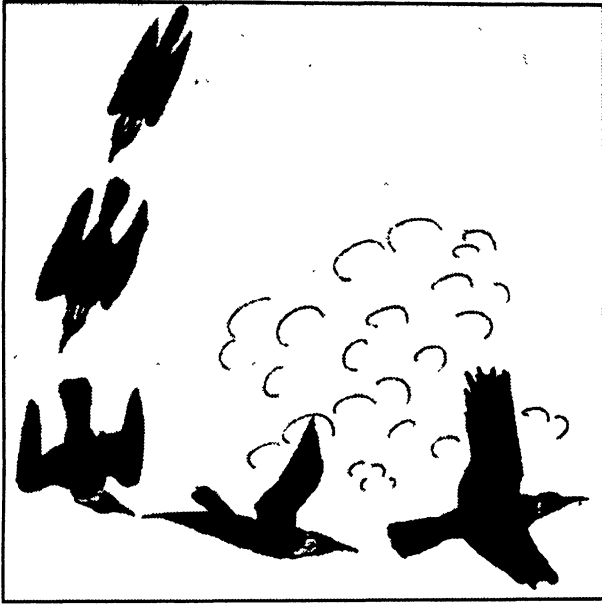
अक्सर शाम के समय आप कौओं को आसमान में आपसी दांव-पेच लगाते, कलाबाज़ी लगाते देख सकते हैं। इसमें गोल-गोल घूमना, तीर की तरह नीचे आना, गोते लगाना, ऊपर उठना आदि शामिल हैं।

हुल्लड़बाजी/हुड़दंगबाजी

जंगली और घरेलू दोनों किस्म के कौए अक्सर बिल्लियों, उल्लुओं, चीलों व गुलेलधारी बच्चों के पीछे पड़ जाते हैं व उन्हें परेशान करते हैं। ऐसा ही कुछ वे उनके घोंसले पर आश्रित परजीवी कोयल के साथ भी करते हैं। सच तो यह है कि कौओं का काफी समय इस तरह की हुल्लड़बाजी में बीतता है। उनके समय का लेखा-जोखा निकालकर यह मूल्यांकन करना रोचक होगा कि उनका कितना समय और ऊर्जा इस तरह की धींगामस्ती में जाते हैं। विकासवादी जीव वैज्ञानिकों का मानना है कि समय व ऊर्जा का इस्तेमाल इस तरह से होता है कि कोई भी प्राणी अपनी 'जीन्स' की अधिकाधिक प्रतिकृतियां छोड़ कर जाए।

अगर ऐसा है तो कौओं को चील को सताकर क्या मिलता होगा जबकि वे उसकी शिकारी भी नहीं हैं। संभवतः मनुष्य के आश्रय के लिए चील को कौए प्रतिद्वंद्वी समझते हैं और इस तरह उन पर हल्ला बोलकर शायद

कौए इस स्रोत का अपना हिस्सा बढ़ाने की कोशिश करते होंगे। इस तरह की परिकल्पना ज़रूर जांचने-परखने लायक हो सकती है।

घोंसला/घरोंदा

कौए अक्सर अप्रैल से जून के बीच घोंसला बनाते हैं। स्थान विशेष के अनुसार यह सीमा मार्च से अगस्त तक भी हो सकती है। इनके घोंसला बनाने की अग्रिम सूचना कोयलों की कुहू-कुहू से मिलती है। कोयल कौए की घोंसला-परजीवी है। इस काम के लिए वह घरेलू कौओं को अपना शिकार बनाती है।

कौए आम या किसी ऐसे ही उपयुक्त वृक्ष की दो टहनियां जहां मिलती हैं उनके बीच ज़मीन से लगभग तीन मीटर की ऊंचाई पर घोंसले बनाते हैं। अगर घोंसला मुंबई जैसे शहर में बन रहा हो तो कौआ टहनियों और डंठलों के बदले लोहे के तार और कीलों का इस्तेमाल करता है। एक बार में मादा चार से पांच अंडे देती है। नर और मादा दोनों ही बराबरी से बच्चों की देखभाल करते हैं। कौए का घोंसला आसानी से पहचान में आ जाता है और प्रजनन व्यवहार अध्ययन करने का अनूठा मौका देता है। कुछ अन्य घोंसला परजीवियों के संदर्भ में हुए अध्ययन यह दर्शाते हैं कि इस तरह के परजीवी से मेज़बान को फायदा होता है क्योंकि वे चूज़ों के शरीर पर आ चिपकने वाले अन्य परजीवियों से रक्षा करते हैं। कोयल की कौए पर की यह परजीविता निश्चित रूप से गहन जांच की मांग करती है।
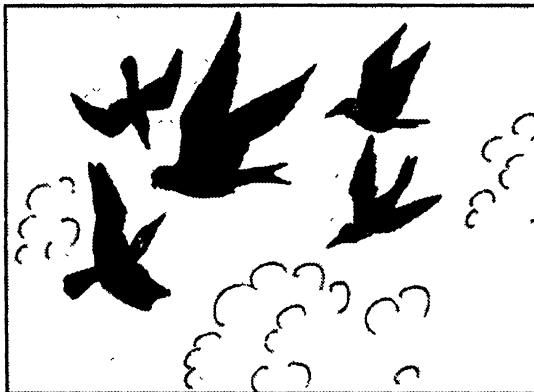
चील, उल्लू, कोयल और गुलेलधारी बच्चों की जान पर बन आती है जब कभी क़ौओं का झुंड आक्रमक हो उठता है।

मिथ और यथार्थ

मैंने यह आलेख जानबूझकर इस स्तंभ के मानक प्रारूप में नहीं लिखा है क्योंकि मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहता हूं कि ये सर्वव्यापी, सहजता से उपलब्ध जैव प्रजातियां वैज्ञानिक अध्ययन के कितने सारे मौके उपलब्ध कराती हैं। हालांकि मैंने इस खज़ाने को छुआ भर है। अगर कोई ढूंढने की शुरुआत करे तो अध्ययन के बीसियों आयाम हैं। फिर भी बचपन में अपने आस-पास के सर्वाधिक स्थाई साथी/सखा कौए के बारे में कितनी सारी अजीबोगरीब/विचित्र कथाएं हम सब सुनते हैं। मराठी की नर्सरी कक्षाओं में अपने काले रंग से दुखी कौए की कविता है। इसमें कौआ बर्फ जैसे सफेद रंग के बगुले से ईर्ष्या करता है। ईर्ष्यावश वह साबुन खरीदता है व अपनी देह को इतना रगड़ता है कि लहूलुहान हो जाता है और अंततः उसकी मौत हो जाती है। जबकि सच्चाई यह है कि कौआ बगुलों के लिए एक संकट है। वह बगुलों के प्रजनन स्थलों पर हमला करके उनके अंडों और बच्चों का बेधड़क शिकार करता है। शर्मसार होने के बजाए यह गुस्ताख चिड़िया पूरे आत्मविश्वास से यह कहती जान पड़ती है कि – काला रंग सुंदर है (ब्लैक इज़ ब्यूटीफुल)।

अब इसे कौए का भोलापन कहें या नेकनीयत। लेकिन वो कोयल के बच्चों की देखभाल भी करता है।

माधव गाडगिल: 'इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइंस', बैंगलोर में पारिस्थितिकी विज्ञान में शोध करते हैं। इससे संबंधित विषयों पर उन्होंने कई पुस्तकें व लेख लिखे हैं।

प्रोजेक्ट लाइफस्केप के संबंध में अन्य जानकारी और प्रोजेक्ट में सहयोग के बारे में जानकारी माधव गाडगिल से प्राप्त की जा सकती है। उनका पता है: सेंटर फॉर इकोलॉजिकल साइंसेज़, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस, बेंगलोर, 560012

ईमेल: madhav@ces.iisc.ernet.in

यह लेख इसी संस्थान से प्रकाशित पत्रिका 'रेज़ोनेन्स' के फरवरी, 2001 अंक से लिया गया है।

चित्र: के. ए. सुब्रह्मण्यन।

अनुवाद: लाल बहादुर ओझा। एकलव्य के भोपाल केन्द्र पर प्रकाशन संबंधी संपादकीय समूह के सदस्य हैं।
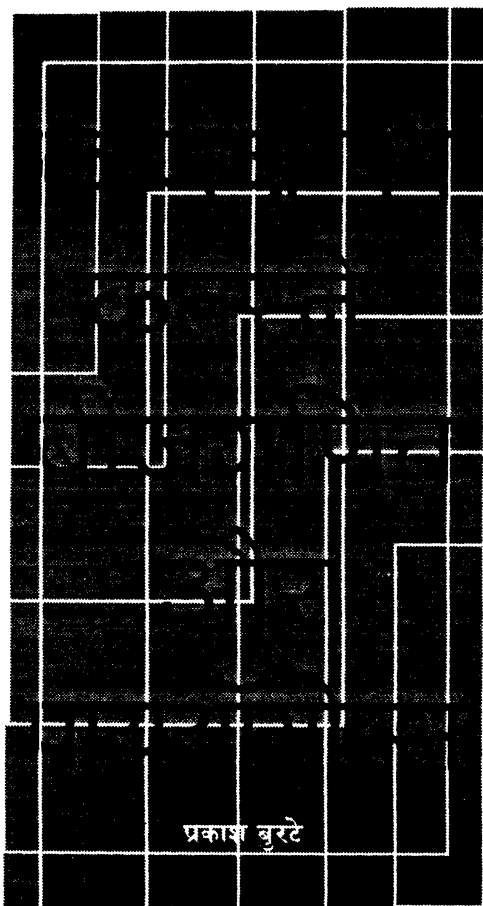
आपने कागज़ से तरह-तरह के खिलौने – नाव, हवाई जहाज़, दवात, फूलदान, कौआ आदि बनाने की कभी-न-कभी कोशिश ज़रूर की होगी। इन सब में शुरुआत में जिस भी कागज़ का आयताकार टुकड़ा हो, मोड़कर उससे वर्ग बनाना होता है। इसके बाद तो आप जो भी बनाना चाह रहे हैं उसके मुताबिक अलग-अलग तरह की आकृतियां बनती जाएंगी।

आयत और वर्ग हमारे आसपास काफी जगहों पर दिखाई देते हैं जैसे – स्कूल या घर की दीवार, छत, कॉपी-किताबें, अखबार-पत्रिकाएं, पोस्टकार्ड, लिफाफे, अलग-अलग आकार के डिब्बों की सतहें ...... यह सूची और बहुत लंबी

हो सकती है। हमारी प्रकृति में आयत या वर्ग भले ही बहुतायत में न दिखते हों फिर भी विभिन्न कारणों से इंसान को ये दोनों आकृतियां काफी पसंद हैं।

आयत और वर्ग के चार कोनों में से आमने-सामने वाले दो कोनों को जोड़ने से दो समकोण त्रिभुज प्राप्त होते हैं। आमने-सामने के कोने जोड़ने वाली रेखा यानी आयत और वर्ग और बनने वाले दो त्रिभुजों का कर्ण। यानी त्रिभुज भी इंसान द्वारा पसंद किया जाने वाला आकार है ऐसा कहा जा सकता है।

जो भी जानकारी हमें हासिल होती है उससे लगता है कि समकोण त्रिभुज की खासियतों को काफी पहले ही जाना जा चुका था। शुल्वसूत्र में दिए गए उल्लेखों के अनुसार यह कहा जा सकता है कि उत्तर वैदिक काल में ईंटों का उपयोग अनेक प्रकार की यज्ञ वेदियों को बनाने में किया जाता था। वेदियों की रचना में समकोण त्रिभुज की विशिष्टता का उपयोग किया गया होगा ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है।

यदि आप समकोण त्रिभुज की विशिष्टता को परखना चाहते हैं तो कागज़, कैंची, स्केल, पेन्सिल व कम्पास बॉक्स लेकर तैयार हो जाइए। कागज़ यदि मोटा हो तो अच्छा अन्यथा गत्ते का उपयोग भी किया जा सकता है। हां, इसे सुगमता से काटने के लिए कैंची या कटर की आवश्यकता होगी। यह एक रोचक खेल है। खेल-खेल में ज्यामिती और बीजगणित के आपसी रिश्ते को भी हम समझ सकते हैं। तो चलिए शुरू करते हैं।

सबसे पहले दो समान आकार के कागज़/गत्ते के आयताकार टुकड़े काटिए। आयत के आमने-सामने के दो कोनों को एक सरल रेखा से जोड़ दीजिए। यह रेखा कर्ण कहलाती है। कर्ण के ऊपर से कैंची चलाते हुए आयत को दो टुकड़ों में काटिए। अब आपके पास चार समान आकार के समकोण त्रिभुज उपलब्ध होंगे। इस त्रिभुज को हम ABC त्रिभुज कहेंगे। त्रिभुज की दो भुजाओं की लंबाई क्रमशः a और b होगी तथा कर्ण की लंबाई c होगी,
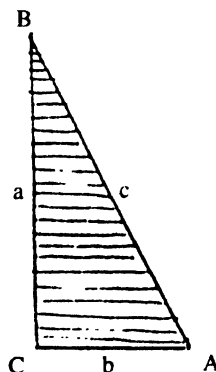
चित्र:1

ऐसा हम मान लेते हैं। (चित्र-1)।

एक अन्य कागज़ पर ABC त्रिभुज को रखकर पेन्सिल से इसकी आकृति बना लीजिए। त्रिभुज की AC व BC भुजाओं को क्रमशः a और b लंबाई के बराबर बढाइए। इन रेखाओं की लंबाई दो दिशाओं में बढ़ा सकते हैं। एक तरह से लंबाई बढ़ाने पर और उसके बाद वर्ग बनाने पर चित्र-2 बनेगा; और दूसरी तरह लंबाई बढ़ाकर काम अंजाम देने पर चित्र-3 मिलेगा।

चित्र-2 के आधार पर चित्र-4 तैयार कर लीजिए और शुरुआती त्रिभुज की भुजाओं का ख्याल रखकर चित्र-3 को इस्तेमाल करते हुए चित्र-5 बनाना होगा।

उसके बाद इन दोनों वर्गों को काट लीजिए और एक-दूसरे पर रखकर देखिए कि क्या दोनों वर्ग एक-दूसरे पर एकदम सटीक ढंग से रखे जा सकते हैं। यदि दो आकृतियां एक-दूसरे पर एकदम फिट बैठती हों तो एक बात तो तय हो जाती है कि इन दोनों आकृतियों का क्षेत्रफल समान है। यहां पर इन दोनों वर्गों की भुजाओं की लंबाई a और b के जोड़ के बराबर है इसलिए इनका एक-दूसरे पर सटीक ढंग से रखा जाना अपेक्षा के अनुकूल है।
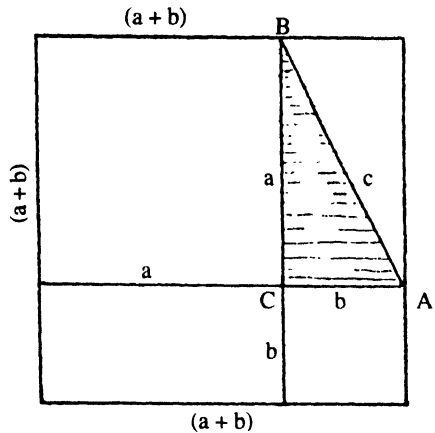
चित्र:2

चित्र:3
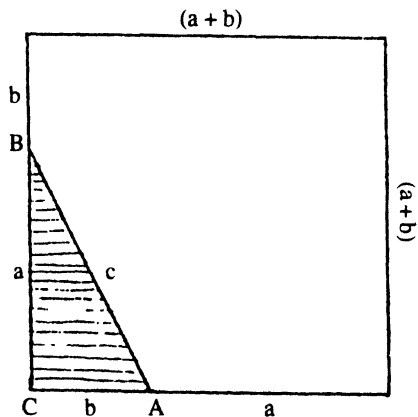
एक समकोण त्रिभुज की भुजाओं को आगे बढ़ा कर दो वर्ग इस तरह से बनाए कि उनका क्षेत्रफल समान व समकोण त्रिभुज की दोनों भुजाओं के योग के बराबर है। देखिए ऊपर बनाए गए दोनों रेखाचित्र।
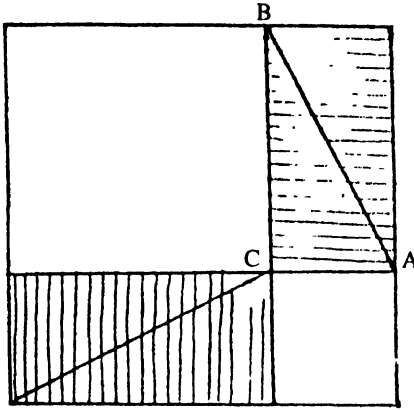
चित्र:4

चित्र:5
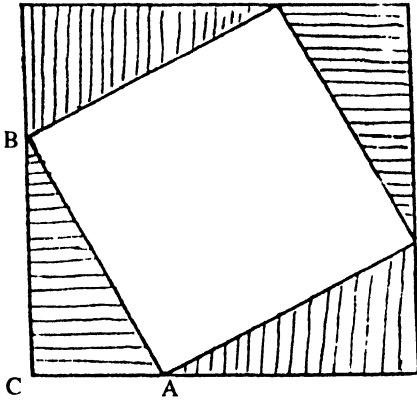
इन समान क्षेत्रफल के वर्गों में से अलग - अलग तरह से चार समान समकोण त्रिभुज निकाल देने पर हमें पायॉथोगोरस का सूत्र मिल जाता है कि समकोण त्रिभुज के कर्ण पर बने वर्ग का क्षेत्रफल दोनों भुजाओं पर बने वर्गों के योग के बराबर होता है।

दो वर्ग बराबर तीसरा

अब इन आकृतियों को ज्यामिति की भाषा में समझने का प्रयास करेंगे। चित्र 4 व 5 में दिखाए वर्गों में एक ही आकार के चार समकोण त्रिभुज समाए हुए हैं (देखें छायांकित त्रिभुज)। यदि चित्र-4 में से छायांकित त्रिभुजों को काटकर अलग किया जाए तो सिर्फ AC और BC इन दो भुजाओं पर दो वर्ग शेष रहते हैं। इनमें से एक वर्ग की भुजा की लंबाई a तथा दूसरे वर्ग की भुजा की लंबाई b है। इसी तरह चित्र-5 से यदि चारों छायांकित त्रिभुज अलग किए जाएं तो कर्ण AC पर एक वर्ग शेष रह जाता है। चूंकि दोनों वर्ग एक समान हैं इसलिए चित्र 4 व 5 से समान आकार के चार समकोण त्रिभुज हटाने पर दोनों आकृतियों में शेष बचे हिस्सों का क्षेत्रफल समान ही होना चाहिए। अर्थात चित्र-4 में बचे दो वर्गों का कुल क्षेत्रफल चित्र -5 में बचे वर्ग के क्षेत्रफल के बराबर होगा।

इससे यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि समकोण त्रिभुज की दो भुजाओं पर बने वर्गों के क्षेत्रफलों का योग त्रिभुज के कर्ण पर बने वर्ग के क्षेत्रफल के

बराबर होगा। यह पायथॉगोरस का सिद्धांत है जो हम सबने कभी-न-कभी पढ़ा होगा। वैसे मज़े की बात यह है कि समकोण त्रिभुज की दोनों भुजाओं पर बने वर्गों और कर्ण पर बने वर्ग को एक दूसरे पर रखकर इस सिद्धांत की परख नहीं की जा सकती।

अभी तक समकोण त्रिभुज के बारे में जो सूत्र हमने पाया है उसमें हमने त्रिभुज की भुजाओं की लंबाई a और b मानी थी। बीजगणित की भाषा ये कोई भी मूल्य रखने वाले 'चर' (variable) हैं। पायथॉगोरस के सिद्धांत की जांच के लिए यूक्लिडीयन ज्यामिति का इस्तेमाल भी किया जा सकता है। अभी तक तो हमने सिर्फ ज्यामितीय आकृतियों को एक-दूसरे पर रखकर उनके आकारों की तुलना और बीजगणित का इस्तेमाल किया है। अब हम ज्यामिति से संबंध न तोड़ते हुए और बीजगणित का थोड़ा ज़्यादा उपयोग करते हुए देखते हैं कि हमारे हाथ और क्या-क्या लग सकता है?

ज्यामिति व बीजगणित

आइए शुरुआत चित्र 4 और 5 से करें और देखें कि कि ज्यामितीय आकृतियों के इस खेल में बीजगणित के उपयोग से क्या कोई नया सूत्र हासिल हो सकता है।

– इन आकृतियों में समकोण त्रिभुज ABC की भुजाओं की लंबाई क्रमशः a और b है।

– भुजाओं को बढ़ाकर बनाए गए वर्ग की भुजाओं की लंबाई $(a + b)$ है।

– $(a + b)$ को $(a + b)$ से गुणा करने पर गुणनफल $a \times a + b \times b + a \times b + a \times b$ अर्थात $a^2 + b^2 + 2ab$ प्राप्त होता है।

– यहां a^2 तथा b^2 क्रमशः भुजा BC तथा AC पर बने वर्गों का क्षेत्रफल दर्शाते हैं।

– $(a \times b + a \times b)$ यहां a और b लंबाई की भुजावाले चार समकोण त्रिभुजों का कुल क्षेत्रफल दर्शाता है।

– $(a+b) \times (a+b)$ भुजाओं को बढ़ाकर बनाए गए बड़े वर्ग का क्षेत्रफल दर्शाता है। बीजगणितीय समीकरण द्वारा इसे निम्नानुसार व्यक्त किया जा सकता है:

$$(a+b)^2 = a^2+b^2+2ab$$

$$a^2+b^2 = (a+b)^2 - 4(1/2)\, ab \;\ldots\ldots \quad (1)$$

निष्कर्ष के रूप में हम पाते हैं कि समकोण त्रिभुज की दो भुजाओं a तथा b, पर बने वर्गों के क्षेत्रफलों का योग, (a+b) लंबाई की भुजा वाले वर्ग के क्षेत्रफल में से a व b भुजा वाले चार समकोण त्रिभुजों के क्षेत्रफल को घटाने पर मिलता है। इस बात को हमने चित्र 4 और 5 से बखूबी समझ लिया है।

एक और तरीका

जिस प्रकार बीजगणित में $(a+b)^2$ को व्यक्त करने का सूत्र उपलब्ध है उसी प्रकार $(a-b)^2$ को भी सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है:

$(a-b)^2 = a^2 + b^2 - 2ab$ या

$a^2+b^2 = (a-b)^2 + 4(1/2)\,ab$ .... (2)

आइए अब इस समीकरण को ज्यामिती और कतरन, इन दोनों नज़रियों से देखने की कोशिश करते हैं। इस समीकरण के बाईं ओर का हिस्सा a^2+b^2 समकोण त्रिभुज की दो भुजाओं पर बने वर्गों के क्षेत्रफलों का योग दर्शाता है। जबकि समीकरण का दाहिनी ओर का हिस्सा a-b लंबाई की भुजा वाले वर्ग तथा चार समकोण त्रिकोणों के क्षेत्रफलों का योग दर्शाता है। समीकरण में '=' का चिन्ह यह दर्शाता है कि समीकरण के दोनों हिस्से बराबर हैं। समीकरण-1 को जिस तरह चित्र 4 और 5 से आसानी से समझाया जा सका, उसी तरह समीकरण-2 को भी कतरनों की ज्यामिति से समझाया जा सकता है।

चित्र:6
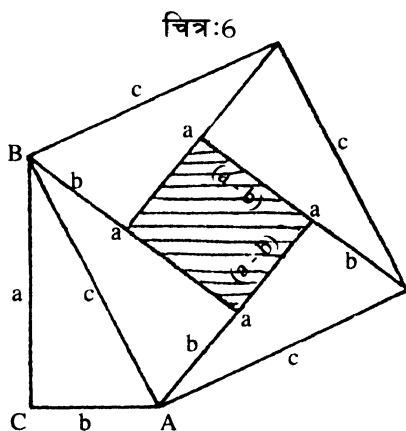
समकोण त्रिभुज के कर्ण पर बने इस वर्ग में उसी आकार के चार समकोण त्रिभुज हैं और (a-b) भुजा वाला एक छायांकित वर्ग है। बड़े वर्ग का क्षेत्रफल इन हिस्सों के क्षेत्रफल के रूप में लिखने पर हमें समीकरण–2 का दाहिना हिस्सा मिल जाता है।

इसके लिए चित्र-5 से शुरुआत करनी होगी। एक बार फिर कागज़ और कैंची लीजिए और एक अन्य कागज़ पर चित्र-5 बनाइए। इस आकृति के चारों समकोण त्रिभुजों को उनके कर्णों पर से अंदर की ओर मोड़िए – चित्र-6 की तरह। इस आकृति के मध्य में बने छायांकित वर्ग की भुजाओं की लंबाई (a-b) होगी। इस आकृति को ध्यान से देखने पर समीकरण-2 के दाहिने हिस्से के सभी अंग मिल जाएंगे। अर्थात (a-b) भुजा वाला एक वर्ग और a व b भुजाओं वाले चार समकोण त्रिभुज। इस आकृति से स्पष्ट है कि ये चार समकोण व एक छोटा वर्ग मिलकर शुरुआती समकोण त्रिभुज के कर्ण पर वर्ग बना रहे हैं। यानी कि समीकरण-2 का दाहिना हिस्सा इस तरह भी कर्ण पर बनने

एक और तरीका प्रमेय को जांचने का

माना जाता है कि किसी भी समकोण त्रिभुज की भुजाओं और कर्ण के बीच के इस संबंध की खोज सबसे पहले पायथोंगोरस ने आज से लगभग ढाई हज़ार साल पहले की – क्योंकि दो से ढाई हज़ार साल के बीच के कई विद्वानों के विभिन्न ग्रंथों में इस बात का ज़िक्र मिलता है। परन्तु इस बात की काफी संभावना है कि पायथॉगोरस के 100-200 साल आगे-पीछे भारतीय उपमहाद्वीप में भी इस संबंध की जानकारी थी क्योंकि शुल्व सूत्रों में इसका उल्लेख है, विशेष तौर पर तैत्रिय संहिता में दो जगह इसका ज़िक्र मिलता है।

इस लेख में बताए गए अंतिम तरीके जैसा ही तरीका भास्कराचार्य ने लगभग आठ सौ साल पहले अपनाया था।
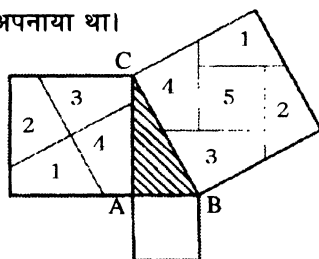
कागज़ की कतरनों के ज़रिए इसे साबित करने का एक और तरीका यहां सुझाया जा रहा है। समकोण त्रिभुज के कर्ण पर बने वर्ग को चित्र में दिखाए अनुसार काट लीजिए। छोटा वर्ग समकोण त्रिभुज की एक भुजा पर फिट बैठेगा और अन्य चार टुकड़ों से दूसरी भुजा पर वर्ग बन जाएगा।

वाले वर्ग के बराबर है।

कागज़ की कतरनों के इस खेल से ज्यामिति और बीजगणित में जुड़वां बहन-भाई की तरह के आपसी रिश्ते का बोध होता है। इस गतिविधि को करते हुए यदि किसी के हाथ शुल्वसूत्र से संबंधित कोई किताब लग जाए तो यह बात भी ध्यान में आ जाएगी कि संभवतः यह सिद्धांत तो आर्यों के आगमन से भी पहले का है।

प्रकाश बुरटे: आई. आई. टी. मुंबई से पढ़ाई करने के बाद भाभा अनुसंधान केन्द्र में 1998 तक संशोधन कार्य किया और सेवा निवृति ली। शिक्षा में होने वाले नवाचारों के प्रति विशेष रुचि। हाल ही में एकलव्य के साथ जुड़कर महाराष्ट्र की प्राथमिक शालाओं की पाठ्य पुस्तकों की समीक्षा की है।

मूल लेख मराठी में। **हिन्दी अनुवाद: सुधा हर्डीकर:** रसायन विज्ञान की सेवानिवृत प्राध्यापक।

पनचक्की का उद्गम और जीत

मार्क ब्लॉक
रूपांतर: सी. एन. सुब्रह्मण्यम

यहां हम एक बहुत प्रसिद्ध और चर्चित लेख प्रस्तुत कर रहे हैं जो मूलतः फ्रेंच भाषा में 1935 में 'अनाल्स्' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में मार्क ब्लॉक आटा पीसने के लिए बने यंत्र – पनचक्की के इतिहास का खुलासा करते हुए समझाते हैं कि कोई भी नई तकनीक किस तरह समाज में फैलती है; वह किन भौगोलिक परिस्थितियों में उपयोगी है, कहां नहीं; समाज ने कब उसे स्वीकारा, कब नहीं; समाज के विभिन्न तबकों के बदलते रिश्ते का उस तकनीक के उपयोग पर क्या असर पड़ा, आदि। अंत में यह पनचक्की का इतिहास न होकर यूरोप के सामाजिक इतिहास का खुलासा हो जाता है।

और इससे भी बढ़कर, ये लेख मानवता व तकनीकी विकास के बीच के द्वंद्वात्मक रिश्ते का बयान है।

मार्क ब्लॉक आधुनिक इतिहास लेखन के प्रवर्तकों में से हैं। उन्होंने सामाजिक इतिहास में किन मुद्दों पर अध्ययन करना चाहिए, तथा उन अध्ययनों के तौर तरीके व मापदण्ड क्या हों, आदि विषयों पर काफी काम किया है। उनकी आखिरी पुस्तक 'द हिस्टोरियन्स क्राफ्ट' जिन परिस्थितियों में लिखी गई, वह काफी प्रेरणास्पद है। 1939 में फ्रांस फासीवादी जर्मनी के अधीन हो गया था। विश्व के तमाम विश्वविद्यालयों ने ब्लॉक को अपने यहां आमंत्रित किया। लेकिन ब्लॉक उन्हें ठुकराकर भूमिगत प्रतिरोध आंदोलन में शरीक हो गए और गांव-गांव, शहर-शहर जाकर लोगों को नाज़ीवाद के खिलाफ संगठित करने में लग गए। इसी बीच उन्होंने इस पुस्तक को भी लिखा। 1944 में वे पकड़े गए और मार दिए गए। आधुनिक दौर के महानतम इतिहासकारों में से एक का आज़ादी की लड़ाई में इस प्रकार अंत हुआ।

ब्लॉक की विरासत केवल उनकी पुस्तकों में ही नहीं है। उन्होंने अपने मित्र इतिहासकार लूसियान फाबर के साथ मिलकर 'अनाल्स्' नामक पत्रिका की शुरुआत की जो आज भी इतिहास लेखन की अग्रणी पत्रिका है।

ब्लॉक के इस लेख का हिन्दी रूपांतरण सामान्य पाठकों के लिए किया गया है जो इतिहास में तो रुचि रखते हैं मगर यूरोप के इतिहास की बारीकियों से वाकिफ नहीं हैं। जहां भी कुछ हिस्से छोड़े गए हैं, वहां तीन बिन्दुओं से इस बात की ओर इशारा किया है। इसमें हमने ब्लॉक की पाद टिप्पणियों को हटा दिया है, क्योंकि संदर्भित ग्रंथ अपने देश में उपलब्ध नहीं हैं।

भूमध्यसागरीय उद्भव

जिस समय पनचक्कियां नदियों के बहाव के साथ घूमने लगी थीं तब तक यूरोप और भूमध्यसागरीय प्रदेशों में अनाज पीसकर खाने की प्रथा हज़ार साल से भी पुरानी हो चुकी थी। शुरू-शुरू में शायद खुरदरे पत्थरों से अनाज कूटा जाता होगा, लेकिन प्रागैतिहासिक काल में ही कभी पीसने के लिए उपयुक्त उपकरण के बनने से इस काम में एक निश्चित विकास हुआ। इसके बाद सिलबट्टे बनाए गए जो मिस्र की

मूर्तियों में दिखते हैं, जिन पर महिलाएं अनाज पीसती थीं। इसके बाद हाथ से घूमने वाली चक्की आई। भूमध्य-सागरीय प्रदेशों में, शायद इटली में, ईसा के एक-दो शताब्दी पहले इसका आविष्कार हुआ था और यह फ्रांस (गॉल) में रोमन साम्राज्य की स्थापना से पहले पहुंच चुकी थी . . . यह मनुष्य की शक्ति से चलती थी, लेकिन इस आविष्कार के कारण यह सम्भावना पैदा हो गई कि अनाज पीसने में मनुष्य की शक्ति की जगह जानवरों (घोड़ा या गधा) की शक्ति का उपयोग किया जा सकता है। जब सम्राट केलीगुला ने रोम के सारे घोड़ों को राज्य के काम में लगा दिया, तब रोटी की कमी पड़ गई क्योंकि अनाज को पीसा नहीं जा सका। घूमने वाली चक्की के ही आविष्कार ने एक और तथा ज़्यादा महत्वपूर्ण खोज को संभव बनाया। इस चक्की की गति सरल थी (नियमित घूमना), जबकि सिलबट्टे में काफी जटिल गतियां होती थीं। इस कारण चक्की को चलाने में एक ऐसी ताकत को लगाया जा सकता था जो लगातार एक ही दिशा में चलती थी यानी बहते पानी की ताकत।

कहा जाता है कि मित्रडेट्स द्वारा बनाए गए महल में एक पनचक्की थी, यानी पनचक्की के बारे में हमारे स्रोतों में उपलब्ध पहला उल्लेख 120-63 ई.पू. का है। इस संबंध में मिले सारे तथ्य इसी बात की ओर इंगित करते हैं कि इसका आविष्कार ईसा पूर्व आखिरी शताब्दी में पूर्वी भूमध्यसागरीय प्रदेश में हो गया था।

पूरे यूरोप में पनचक्की का फैलाव यही बताता है कि यह पूर्वी भूमध्यसागरीय प्रदेश से क्रमशः फैली। *(यहां यूरोप के विभिन्न हिस्सों में पनचक्की के फैलने का साक्ष्य प्रस्तुत किया गया है - अनु)*

यह आश्चर्य की बात है कि यह महत्वपूर्ण आविष्कार भूमध्यसागरीय प्रदेश में हुआ जहां नदियों में पानी का बहाव साल भर एक-सा नहीं होता है। लेकिन उत्तरी यूरोप की नदियों की तुलना में ये नदियां सर्दी में जमती नहीं हैं। फिर भी यह एक विसंगति-सी लगती है कि पनचक्की भूमध्य सागरीय प्रदेश का आविष्कार है।

यह तय है कि चक्की भूमध्य सागरीय सभ्यताओं की देन है। इससे ही पनचक्की जनमी। यह भी उल्लेख-नीय है कि पानी से चलने वाला चक्का अनाज पीसने के अलावा कई और कार्यों में भी उपयोगी हो सकता था, जैसे, नदियों व तालाबों से पानी खींचकर ज़मीन सींचना आदि। बहुत पुराने समय से मिस्र और भूमध्य-सागरीय प्रदेशों में इस चक्की का उपयोग सिंचाई के लिए किया जाता रहा है। इन इलाकों में गर्मी में जब

फसल होती है तब शुष्क जलवायु रहती है इसलिए सिंचाई का काफी महत्व है। अत: हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि सिंचाई के लिए बनाए गए चक्के का ही एक विकसित रूप पनचक्की है और ये दोनों भूमध्यसागरीय प्रदेश में ही विकसित हुए। यह तो हमें मानना ही होगा कि यह महज एक अनुमान है। इतिहासकार के धंधे में 'क्यों' एक ऐसा प्रश्न है जो उसे परेशान भी करता है और आनंद भी देता है। फिलहाल हमें पनचक्की का विकास कहां व क्यों हुआ इसका संतोषजनक उत्तर मिलता हुआ दिखता है।

पनचक्की का समाज पर असर

इस तकनीकी विकास का पहला नतीजा यह था कि कारीगरों में विशेषज्ञता और बढ़ी। नए औज़ार ने नया धंधा बनाया। पुराने समय के एक यूनानी कवि ने प्रात: काल के वर्णन में सिलबट्टे में अनाज पिसने की आवाज़ के साथ लोगों के जगने की बात कही है। जब हाथ से घूमने वाली चक्की का उपयोग होने लगा तो अनाज पीसने का काम गृहणियों या दासियों का काम माना जाने लगा। बड़े शहरों में यह नानबाई का काम था। रोमन भाषा में नानबाई को 'पिरटोह' कहा जाता है – यानी पीसने वाला। हाथ से या घोड़े से चलाई जाने वाली चक्की और तंदूर उसके धंधे के प्रमुख औज़ार थे। लेकिन पनचक्की को चलाने के लिए विशेष चक्की चालकों की ज़रूरत थी। उनकी एक श्रेणी का ज़िक्र रोम के सन् 448 के एक शिलालेख में मिलता है। मध्यकाल में इन्हें आमतौर पर शक की नज़र से देखा जाता था। चॉसर *(14वीं शताब्दी के अंग्रेज़ कवि – अनु)* ने लिखा है, 'सारस चक्की में कभी अपना घोंसला क्यों नहीं बनाते हैं – क्योंकि उन्हें डर है कि चक्की वाला अंडों को चुरा लेगा।' जो भी हो पुराने ग्रामीण समाज के बदलाव के अध्ययनों में सामान्य कृषक या कारीगर के स्तर के ऊपर उठकर मध्यम वर्ग का दर्जा पाने वालों में चक्की वालों का अहम स्थान है। ये सब उस उद्यमी व्यक्ति की वजह से हुआ जिसने सबसे पहले चक्की को जल देवताओं के सुपुर्द किया। तकनीक के इतिहास में किन्हीं गुमनाम अन्वेषकों की कोई छोटी पहल, वास्तव में ऐतिहासिक घटनाएं बन जाती है।

पिछली दो पीढ़ियों में हमने यातायात के साधनों में महत्वपूर्ण परिवर्तन देखे हैं। विशुद्ध मशीनी ताकत ने जानवरों की ताकत की जगह ले ली है। पनचक्की से आया परिवर्तन भी कुछ इसी प्रकार का था। एक तरह से देखा जाए तो तकनीकी विकास का उद्देश्य जैवी दुनिया को शारीरिक श्रम से मुक्त करना है – लकड़ी की जगह लोहे का उपयोग, काठ कोयले की

जगह कोयला, नील की जगह रासायनिक रंग का उपयोग, आदि। मनुष्य के द्वारा प्राकृतिक ताकतों पर काबू पाने के इस प्रयास में ईसा के जन्म से पहले हुए आविष्कार निर्णायक रहे हैं। इनमें जिस ताकत का उपयोग किया जाने लगा वह चिर-परिचित थी और आसानी से काम में लाई जा सकती थी और साथ ही अति शक्तिशाली भी। इसी ताकत से आज हमारे टरबाइन चलते हैं। इससे मनुष्य और जानवर दोनों शारीरिक श्रम से बचे। यह आविष्कार इसलिए भी महत्वपूर्ण था क्योंकि यह भाप-इंजिन से पूर्व इस प्रकार का पहला और एक मात्र आविष्कार था। यह चक्का थोड़े परिवर्तन के साथ कई और कामों में उपयोग किया जा सकता था। जैसे, तेल का घान चलाने, चमड़ा कमाने, आरी चलाने, लोहार का हथौड़ा चलाने, आदि। चलते-चलते 17वीं-18वीं शताब्दी के कारखाने बने जो नदियों की ताकत से चलते थे। इंग्लैंड के कारखाने आज भी 'मिल' कहे जाते हैं ('मिल' यानी चक्की)।

पनचक्की की आंतरिक रचना में एक और खूबी है जो तकनीकी इतिहास के लिए काफी महत्वपूर्ण है। जैसे पहले बताया जा चुका है, नदी के बहाव के साथ एक पहिया घूमता है और उससे जुड़ा चक्की का पत्थर घूमता है। इसमें एक समस्या है – चक्का खड़ा घूमता है और पत्थर आड़ा घूमता है। खड़ी गति को आड़ी गति में बदलने के लिए गियर का उपयोग किया गया जो बाद में जाकर मशीनों के इतिहास में अत्यत महत्वपूर्ण साबित हुआ। *(इस संदर्भ में मार्क ब्लॉक याद दिलाते हैं कि पूरे यूरोप में काफी बाद तक बगैर गियर के पनचक्की भी उपयोग मे थी। ब्लॉक इतिहास की ये तकनीकी विविधता की इस पहेली को सुलझाने के लिए पाठकों को आमंत्रित करते हैं – अनुवादक)*

ईसवी सन् की शुरुआत में यूनानी-रोमन सभ्यता के लोगों को अपना भोजन तैयार करने के लिए एक विकसित मशीन उपलब्ध थी। यह एक ऐसी मशीन थी जिसके उपयोग से अनगिनत मनुष्यों को कठिन परिश्रम से राहत दिलाई जा सकती थी। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि इस मशीन के उपलब्ध होने के बावजूद इसका आम उपयोग बहुत ही धीमी गति से फैला।

पनचक्की की ज़रूरत कब व क्यों

यद्यपि पनचक्की का आविष्कार प्राचीन काल में हुआ था उसका विस्तार मध्यकाल में हुआ। फ्रांस में इसके विस्तार की कहानी ज़्यादा स्पष्ट है – सबसे पहले तीसरी शताब्दी का एक ज़िक्र मिलता है, इसके बाद सन् 500 के आसपास का – यानी उस समय

तक यह यंत्र दुर्लभ ही था। मेरी जानकारी के मुताबिक छठवीं सदी ईसवी का ज़िक्र है। इनमें से एक ज़िक्र उस समय के कानून में है – अर्थात तब तक इसका काफी फैलाव हो चुका होगा। लगभग यही कहानी रोम की भी है। वहां भी छठवीं या सातवीं सदी में ही इसका प्रचलन आम हुआ। *(यहां पर रोम व रोमन साम्राज्य में पनचक्की के उपयोग के साक्ष्यों की चर्चा है – अनु)*

इस तरह उपलब्ध तकनीकी संभावनाओं का उपयोग न करना रोमन साम्राज्य के लिए कोई खास बात नहीं थी। गॉटियर फरमाते हैं, "रोम ने, अपनी विकसित राजनैतिक संस्थाओं के समकक्ष प्राकृतिक संसाधनों पर कोई नियंत्रण हासिल नहीं किया।" बिल्कुल सही, लेकिन क्या रोम ऐसा नियंत्रण चाहता था?

कहा जाता है कि जब सम्राट वेस्पेसियन अपने राजमहल का जीर्णोद्धार कर रहा था तो एक कारीगर ने उसके सामने एक ऐसी मशीन का मॉडल पेश किया जो खंभों को ऊंचाई तक आसानी से पहुंचा सकती थी। सम्राट ने आविष्कारक को ईनाम तो दिया लेकिन आविष्कार को यह कह कर ठुकरा दिया कि 'मुझे लोगों को रोज़ी देनी है।' यह कहानी कई महत्वपूर्ण बातों की ओर इंगित करती है। पहली तो यह कि उस सभ्यता में तकनीकी आविष्कार करने की क्षमता की कमी नहीं थी। दूसरी वे भली-भांति समझते थे कि मशीनों से शारीरिक परिश्रम कम हो सकता है। *(यहां इस समझ के कुछ साक्ष्य प्रस्तुत हैं – अनु)* लेकिन उस सभ्यता को अपने लोगों को श्रम से बचाने की ज़रूरत कतई नहीं लगी, क्योंकि ईसवी सन् की शुरुआत में अपने कृषि उत्पादन की तुलना में वह बहुत अधिक घनी आबादी से संपन्न थी।

तमाम बड़े इस्टेटों (जो खेतिहर उत्पादन की इकाइयां थीं) में अनाज पीसने का काम गुलामों, खासकर महिला गुलामों का था। इन इस्टेटों के बड़े भूस्वामी अपने गुलामों के दुख दर्द के प्रति न तो संवेदनशील थे, न ही उन्हें कोई ज़रूरत थी कि वे मशीनें लगवाएं क्योंकि उनके पास गुलामों की फौज होती थी। छोटे घरों में या नानबाइयों के पास इतने साधन तो नहीं थे कि वे पनचक्की लगाते। इसलिए वे दासों से यह काम करवाते थे या खुद कर लेते थे। रोम जैसे बड़े शहरों में ज़रूर पनचक्की से काफी फायदा होता। लेकिन कोई आविष्कार तब तक नहीं फैलता है जब तक वह एक सामाजिक ज़रूरत बनकर न खड़ा हो जाए। तब उसका उपयोग एक रूटीन की बात बन जाती है।

कुछ इसी तरह की ज़रूरत साम्राज्य के विघटन के दौरान महसूस होने लगी। आमतौर पर आबादी घट रही थी। गुलामों की सप्लाई में रुकावटें आ गयी थीं। पुराने गुलामों की फौज को भी छोटे-छोटे काश्त में बसाया जा रहा था। ऐसे में लोगों को उस पुराने आविष्कार की याद आई, जिसका उपयोग बहुत कम हुआ था।

शायद इस आविष्कार के पीछे एक मेधावी की अनोखी कल्पनाशक्ति रही होगी। लेकिन प्रगति तभी होती है जब कोई विचार किसी सामाजिक ज़रूरत के दबाव में आकर वास्तविक रूप धारण करता है।

सामन्त युग में पनचक्की

नई तकनीक की विजय किसी एकमुश्त प्रयास का फल नहीं था। मनुष्य व जानवरों के श्रम से अनाज पीसने के प्राचीन तरीकों के यूरोप से लुप्त होने का इतिहास बहुत लम्बा और कटु सामाजिक संघर्षों से भरा है। दुर्भाग्यवश यह सारा इतिहास काफी धुंधला है।

एक महत्वपूर्ण और साधारण समस्या की वजह से पनचक्की की विजय यात्रा धीमी पड़ गई थी। पूरे विश्व में ऐसे कई क्षेत्र हैं जहां नदी - नालों का अभाव है। तत्कालीन यातायात के साधनों के पिछड़ेपन के कारण अनाज को पिसवाकर लाने के लिए खास जगहों पर लगी पनचक्कियों पर लोग निर्भर नहीं रह सकते थे। अतः उन्हें एक और नए आविष्कार पवन-चक्की के आने तक पुराने तरीकों से ही संतुष्ट रहना पड़ा।

यहां पर यह कहना भी ज़रूरी है कि सभी नदी-नाले पनचक्कियों को चलाने के लिए पूरी तरह उपयुक्त भी नहीं थे। जो सबसे उपयुक्त थे, वे भी समय-समय पर जम जाते थे, उनमें बाढ़ आ जाती थी या वे सूख भी जाते थे।

सेंट अलबान के मठाधीश ने तेरहवीं शताब्दी में अपने मठ की पनचक्कियों को सुधारते समय अपनी दूरदर्शिता की पहचान दी और एक पनचक्की जिसकी नदी सूख चुकी थी, की जगह एक बढ़िया घोड़ा-चलित चक्की की स्थापना की। 1741 ई. में पेरिस के महापौर ने आग्रह किया कि पिछले साल की ठंड और बाढ़ को देखते हुए शहर में हाथ की चक्कियां भी होनी चाहिए।

इस तरह की सलाहों के पीछे केवल प्राकृतिक विपदाओं का डर ही नहीं था। मध्यकाल में सामान्य रूप से यह माना जाता रहा कि हर शहर को दुश्मनों की घेराबंदी से बचाव करना चाहिए। मध्यकाल में ऐसा कोई किला नहीं था जिसमें साधारण चक्की न

हो। इटली के परमा शहर को सम्राट फेड्रिक-II ने कई महीनों तक घेर रखा था और उसने शहर की ओर बहने वाले सारे नदी-नालों का मार्ग बदल दिया था, तब शहरवासी हाथ और घोड़ों से चलने वाली चक्कियों के सहारे ही जीवित रह पाए थे। युद्ध सामान्य आर्थिक कामकाज को ठप्प करने के साथ लोगों को प्राचीन और सरल तकनीकों को उपयोग करने पर मजबूर कर ही देता था।

अंत में, अक्सर यात्रा पर रहने वालों के लिए हल्के उपकरण ज़रूरी थे। केरोलिन्जियन सेना की गाड़ियों से चक्कियों को ढोया जाता था क्योंकि उनके रास्तों में, खासकर जर्मनी में, ऐसे लम्बे-चौड़े प्रदेश थे जहां पनचक्की की जानकारी नहीं थी। आश्चर्य की बात है कि तेरहवीं सदी तक नॉरमन व्यापारी अपनी यात्राओं में चक्कियों को साथ लेकर चलते थे। निश्चय ही इसके पीछे केवल तकनीकी कारण ही नहीं थे। एक कारण आर्थिक भी था। कई जगहों पर ब्रेड या आटा दिन में एक खास समय पर ही मिलता था – व्यक्तिगत चक्की होने से यात्री ज़मींदारों को पीसने का शुल्क देने से बच जाते थे। ज़मींदारों के ये हक लोगों पर काफी भारी पड़ते थे। इनके बारे में हम आगे और पढ़ेंगे।

ये तो खैर चंद अपवादों की बातें हैं। लेकिन तथ्य तो यह है कि जहां युद्ध नहीं होते थे और पानी भी पर्याप्त था, वहां भी लम्बे समय तक पुराने तरीकों से काम चलता रहा। हमें इस विडम्बना को समझने के लिए कुछ बातों को ध्यान में रखना होगा। मध्यकाल की शुरुआती शताब्दियों में कोई नवाचार धीरे-धीरे ही फैल सकता था, क्योंकि महत्वपूर्ण लोगों के यहां काम करने के लिए गुलामों की फौज उपस्थित होती थी। और वे आचार-व्यवहार भी ज़िम्मेदार थे जिन्हें बर्बर आक्रांता अपने देश से लाए थे। जर्मनी (जहां से वे आए थे) के बड़े घरों में अनाज पीसने वाली दासी अन्य घरेलू काम करने वाली दासियों की तुलना में हेय दृष्टि से देखी जाती थी और उसकी जान और इज़्ज़त दोनों ही उनसे कम सुरक्षित थी। छठी शताब्दी तक ऐसी दासियों या नौकरानियों का ज़िक्र मिलता है। लेकिन रोम और उससे लगे जर्मनी के हिस्सों में जहां पानी की सुविधा थी, वहां बड़े घरों में से काफी तेज़ी से मनुष्य या घोड़ों द्वारा चलाई जाने वाली चक्की दुर्लभ होती गई। फ्रांस के केरोलिन्जियन स्रोतों या इंग्लैंड के स्रोतों से पनचक्कियों की ध्वनि लगातार सुनाई देती है, लेकिन फिर भी एक क्षेत्र बिलकुल अलग-थलग पड़ा रहा – वह था किसानों का घर जहां पुराने घिसे-पिटे तरीके बने रहे।

ज़रा उन शर्तों पर गौर करें जो

एक पनचक्की की स्थापना के लिए ज़रूरी थीं। सबसे पहले तो चक्की के स्थापक को पानी लेने का कानूनी हक होना चाहिए। चक्की निर्माण इतना मंहगा था कि जब तक बहुत बड़ी मात्रा में अनाज उससे नहीं पिसवाया जाए, तब तक वह लाभकारी नहीं बन सकती थी। दिलचस्पी की बात यह है कि हमारे दस्तावेज़ों में मिलने वाली सबसे पुरानी चक्कियां (रोम में हर सदी से और डिजान व जेनीवा में छठी सदी से) शहरी आबादी के काम आ रही थीं।

सामन्ती अधिकार, पनचक्की व कृषकों का संघर्ष

लगभग सारी चक्कियां जिनका इतिहास हमें मिलता है, सामन्ती हक के आधार पर बनी थीं। इनमें से कई बड़े मठों में स्थापित थीं जिनमें रहने वालों की तादाद काफी ज़्यादा थी। उनके सदस्यों के अलावा उन्हें कई नौकरों, उप सामन्तों व यात्रियों को भी खिलाना पड़ता था। अतः आटे की खपत काफी अधिक होती थी। ऐसे में वे श्रम की बचत करने के लिए कटिबद्ध रहे होंगे। हालांकि नियमों के अनुसार मठों के सदस्यों को सबसे कठिन काम खुद करना होता था। जर्मेन डी'ओक्सेर जैसे कुछ मुनि ज़रूर आटा पीसकर अपने शरीर को कष्ट पहुंचाते थे (जो पाप धोने में सहायक माना जाता था)। लेकिन लोचे के समझदार मठाधीश पनचक्की पसंद करते थे क्योंकि "इसकी मदद से एक गुरुभाई कइयों का काम कर सकता है और जिससे कई धर्मभीरू सज्जनों को फुर्सत मिल जाती है – शायद प्रार्थना में अधिक समय लगाने के लिए।"

इस बात में कोई शक नहीं है कि इन मठों ने सामन्त ज़मींदारों के सामने अनुसरणीय उदाहरण पेश किए। वे भी अपने इस्टेटों में काफी सारे सैनिक व खेतिहर नौकर रखते थे। इन सबको खिलाने के लिए सामन्त की खुद-काश्त ज़मीन होती थी जिस पर सामन्त खुद खेती करवाता था। इसके अलावा किसानों से कृषि उपज के रूप में लगान मिलता था। फसल कटते ही अनाज का अम्बार लग जाता था, जो पन-चक्की में पिसने के लिए तैयार होता था। शायद सामन्त की प्रजा (किसान) और आसपास के दूसरे किसान भी अपना अनाज पिसवाने इन चक्कियों में आते थे। इन चक्कियों की आय का एक बड़ा हिस्सा इन किसानों के द्वारा चुकाए गए शुल्क से मिलता होगा। संभव है कई सामन्त किसानों को मजबूर भी करने लगे हों कि वे अपना अनाज इन पनचक्कियों में ही पिसवाएं। लेकिन तब भी यह एक स्थापित परम्परा नहीं बनी थी। इसलिए शायद सेंट बेर्टिन मठ के अधीन किसान नवीं सदी में और सेंट डेनिस मठ के बन्धुआ

किसान दसवीं सदी में और उनके जैसे कई और जिनका ज़िक्र किसी दस्तावेज़ में नहीं मिलता है, अपने घरों में हाथ की चक्की से अनाज पीसते रहे।

लेकिन दसवीं सदी से ग्रामीण जीवन के आर्थिक एवं कानूनी ढांचों में महत्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे। इन सामन्तों के पास अपने क्षेत्र पर हुक्म चलाने का अधिकार था और वे अपने क्षेत्र के न्यायाधीश भी थे। (उन दिनों राज्य की न्याय व्यवस्था विकसित नहीं थी) इन अधिकारों का उपयोग करते हुए बड़े सामन्तों ने अपने लिए कई एकाधिकार (फ्रेंच में इसे 'बान' कहते थे) निश्चित किए। उनके अधिकारों की परिधि में आने वाले सभी लोगों को सामन्तों के ही तंदूर में ब्रेड बनवाना था। वे केवल उसी की चक्की में अंगूर का रस निकालकर शराब बना सकते थे, गाय या सुअर के प्रजनन के लिए उसी के सांड का उपयोग कर सकते थे, दावन उसी के घोड़ों से करवा सकते थे, आदि। इसी क्रम में सबसे महत्वपूर्ण और प्राचीन एकाधिकार था, पनचक्की का उपयोग। इन सब उपयोगों के बदले अधीन किसान सामन्त को भुगतान करने के लिए मजबूर थे।

मध्यकालीन समाज में न्यायपूर्ण बात और परम्परागत बात इन दोनों के बीच में काफी भ्रांति रहती थी। सामन्तों की नई मांग शीघ्र ही पारम्परिक बन गई, 'बान' (एकाधिकार) सामन्ती हक का एक अभिन्न अंग बन गया, और तब तक बना रहा जब तक सामन्ती व्यवस्था खत्म नहीं हुई (ये अधिकार 1789 की फ्रांसीसी क्रांति के बाद खत्म हुए)।

एक एकाधिकार स्थापित होने के बाद सामन्त की प्रजा को उसी की पनचक्की में अनाज पिसवाना पड़ता था और उस नदी के मालिक सामन्त को पिसवाने का शुल्क चुकाना पड़ता था। 11वीं और 12वीं सदी के बाद जब बड़ी-बड़ी खुदकाश्त ज़मीन टूटकर खत्म हुईं और लगान अनाज की जगह पैसों में दिया जाने लगा, तब भी सामन्तों की पनचक्कियों में अनाज पिसवाने वालों की कमी नहीं थी। यह सामन्त का पारम्परिक हक जो बन चुका था।

जैसा कि अन्दाज़ा लगाया जा सकता है, इस तरह के बलपूर्ण अधिकार काफी संघर्ष के बाद ही स्थापित हो पाए। पूरे सामन्ती इलाके में दूसरी चक्कियों की स्थापना को रोक पाना कठिन था। काफी निगरानी और थोड़े बहुत समझौते से शायद यह किया जा सकता था, लेकिन इस एकाधिकार की स्थापना में बाधा बनकर एक और समस्या खड़ी थी – घरेलू चक्कियां जो सदियों से हर झोपड़ी में घूमती रहीं, अनाज पीसती रहीं। नतीजा यह कि सामन्तों ने इसके खिलाफ युद्ध

छेड़ने का निश्चय किया।

दुर्भाग्यवश इस लम्बे झगड़े का पूरा विवरण फ्रांस या जर्मनी के लिए उपलब्ध नहीं है। फ्रांस में यह संघर्ष दसवीं व ग्यारहवीं सदी में हुआ होगा और इसी समय के फ्रांसीसी इतिहास की स्रोत सामग्री दुर्लभ है। सौभाग्यवश हमें 1207 का एक ज़िक्र मिलता है जहां 'यूमीजे' मठ के लोग विविल ज़मींदारी में बची हुई हाथ की चक्कियों को तोड़ डालते हैं। निश्चय ही यह ज़मींदारी मठ की सामन्तशाही ज़मीन से कभी किसी मठाधीश के चहेते के लिए अलग की गई होगी और वहां सामन्तशाही के सारे हक लागू नहीं रहे होंगे। ऐसे किस्से पहले के समय में काफी रहे होंगे लेकिन वे इतिहासकार की पकड़ में नहीं आते हैं।

लेकिन सामन्तों की जीत कभी भी पूरी नहीं रही और समय-समय पर गांव व शहरों में हाथ की चक्की का ज़िक्र मिलता रहता है। देहातों में सामन्तवाद के तंत्र परेशान करने वाले तो थे, लेकिन हर बात का पालन करवाने के लिए उनमें पर्याप्त ताकत नहीं थी। इस कारण सामन्ती हकों का लगातार पालन करवाना असंभव था। अवज्ञा में माहिर किसानों को काबू में रखने के लिए लगातार नियंत्रण के प्रयास की ज़रूरत थी। जर्मनी के शासकों ने पाया कि पूर्वी भागों के किसान अपनी घरेलू चक्की को त्यागने के लिए तैयार नहीं थे। अतः उन शासकों को पश्चिम से आकर बस रहे किसानों पर यह पाबंदी लगाकार संतुष्ट होना पड़ा।

फ्रांस में सत्रहवीं शताब्दी में जब सामन्तशाही अपने अधिकारों को पुनः स्थापित करने के लिए संघर्षरत थी तब, पनचक्की को लेकर हुई कई झड़पों के उल्लेख मिलते है। चूंकि किसान चोरी-छिपे घरों में आटा पीस लेते थे, इस कारण सामन्तों के अधिकार के तहत चल रही पनचक्कियों से पर्याप्त आय नहीं हो पा रही थी, अतः उन्होंने घरेलू चक्कियों पर पाबंदी लगाने के बदले उन पर शुल्क लगाना शुरू कर दिया। 1789 में क्रांतिकाल में किसानों ने जो जुल्म गिनाए उनमें यह जुल्म काफी प्रमुख था। लेकिन इंग्लैंड में मनुष्य के श्रम से पानी और हवा का युद्ध सबसे ज़्यादा स्पष्ट है।

इंग्लैंड में सामन्तवादी अधिकार सन् 1000 के बाद फ्रांस से आए नॉरमन आक्रांताओं द्वारा स्थापित किया गया था। इंग्लैंड में सामन्तवादी एकाधिकार फ्रांस की तुलना में कम स्थापित था। लेकिन पनचक्कियों पर सामन्ती अधिकार लागू करने का प्रयास आमतौर पर हुआ और उसके खिलाफ संघर्ष भी हुआ। यहां पर विरोध काफी जानदार इसलिए भी था क्योंकि यह देश भूमध्यसागरीय प्रभावों से दूर था और जर्मनी और स्केंडिनेवियाई

संस्कृतियों का असर यहां काफी था। यहां पनचक्की जो बड़ी ज़मींदारियों में 11वीं सदी के अंत से थी, मध्यम वर्गों के बीच धीरे-धीरे ही फैली। अंग्रेज़ी शहरों को जो अधिकार पट्टे (चार्टर) सामन्तों/राजाओं द्वारा दिए जाते थे। उनमें अक्सर यह कहा जाता था कि इन शहरों में हाथ-चक्की का उपयोग हो सकता है। इस तरह की अनुमति फ्रांस या जर्मनी के पट्टों में नहीं मिलती है। सन् 1120 से 1151 के बीच एक उच्च कुल की महिला ने अपनी पनचक्की को जब एक मठ को दान में दिया तो उन्होंने उस दस्तावेज़ में यह बात भी डलवाई कि, 'यहां के लोग हाथ की चक्की नहीं रख सकते हैं।' अक्सर सामन्तों के अधिकारी घरों में घुसकर हाथ की चक्कियों को टुकड़े-टुकड़े कर देते थे। गृहणियों के विद्रोह का भी ज़िक्र है। न्यायालयों में लम्बे मुकद्दमों के बाद अधीन प्रजा के हमेशा परास्त होने के भी विवरण हैं। मठों के 13वीं, 14वीं सदी के वृतांतों में इन झगड़ों के कागज़ात भरे हैं। सेंट अलबांस मठ में तो यह संघर्ष एक महाकाव्य बन बैठा।

इंग्लैंड के हेबर्टफ्रॉर्डशायर ज़िले के इस छोटे कस्बे को मठाधीशों (जो उस शहर के स्वामी थे) ने किसी प्रकार की रियायत देना स्वीकार नहीं किया तो यहां के निवासी पड़ोसी शहरों के नागरिकों की देखा-देखी उठ खड़े हुए। ये लोग किसान नहीं, बल्कि कारीगर थे। वे घर पर अनाज पीसकर चक्की शुल्क और चक्की चालक की युक्तियों से बचना तो चाहते थे, साथ ही कपड़ा तैयार करने में सामन्तों की मिल के उपयोग से भी बचना चाहते थे। पहला विवाद सन् 1274 में उठा। मठाधीश ने हाथ की चक्कियों व कपड़ों को जप्त कर लिया, उनके अधिकारियों व लोगों के बीच आपसी मारपीट हुई। नागरिकों का एक संगठन बना जो पैसा इकट्ठा करके मुकदमा लड़ने चला। मठ के लोग राजा के समक्ष प्रार्थनाएं करने लगे, महिलाओं ने रानी को अपनी तरफ करने का प्रयास किया। लेकिन मठाधीश रानी को एक गुप्त दरवाज़े से मठ के अंदर चुपके से ले गए। अंत में राज दरबार में लम्बा मुकदमा चला और हमेशा की तरह शहरवासी हारे और बदले में उन्हें मठाधीश को पांच बैरेल उम्दा मदिरा देनी पड़ी।

सन् 1314 में एक बार और विवाद उठा। तब 1326 में नागरिकों ने अपने अधिकारों का लिखित प्रमाण मांगा (जिसमें घर पर पीसने का अधिकार भी शामिल था)। इस सिलसिले में खुला विद्रोह हुआ और मठ को दो बार घेर लिया गया। अंत में राजा के हस्तक्षेप के बाद समझौता हुआ। फिर भी मठाधीश के एकाधिकारों का मुद्दा सुलझा नहीं। इस स्थिति का

फायदा उठाते हुए घर-घर में चक्कियां घूमने लगीं। लेकिन 1331 में एक नया मठाधीश – भयानक कुष्ठ रोगी रिचर्ड – आया। उसने मुकदमा जीत लिया। पूरे शहर से चक्कियों के पत्थर मठ में लाए गये और फर्शी बनाकर ज़मीन पर गाड़े गए – युद्ध में जीती गई ट्रॉफी की तरह। लेकिन 1381 में जब इंग्लैंड के सामान्य लोगों का महान विद्रोह हुआ जिसमें वेट टेलर और जान बॉल ने नेतृत्व दिया था, तो सेट अलबांस के लोग भी प्रभावित हुए और मठ पर हमला बोल दिया। उन्होंने उस कुख्यात चक्की के पत्थरों वाले फर्श को नष्ट कर डाला जो उनकी हार का प्रतीक था। पत्थर तो अब पीसने के काम नहीं आ सकते थे, फिर भी सब लोग एक-एक टुकड़े को अपनी जीत व एकता का प्रतीक मानकर घर ले गए – 'उसी तरह जैसे श्रद्धालु इतवार के दिन दिव्य ब्रेड को तोड़कर ले जाते हैं।' इस विद्रोह के बाद जो आज़ादीनामा मठाधीश को देना पड़ा उसमें हर घर पर चक्की से पीसने का अधिकार भी शामिल था। यह महान विद्रोह भूसे की आग की तरह जलकर खत्म हो गया। जब समूचे इंग्लैंड में विद्रोह का खात्मा हुआ तो शाही फरमान के तहत वे सारे समझौते, जो लोगों ने बलपूर्वक करवाए थे, समाप्त कर दिए गए। क्या एक शताब्दी से चल रहे संघर्ष का यह अंत था? बिलकुल नहीं, इस संघर्ष के इतिहासकार अपनी कहानी के अंत में यह स्वीकार करते हैं कि कम-से-कम जौ पीसने के लिए घरेलू चक्कियां फिर काम करने लगीं और फिर उन पर प्रतिबन्ध लगा।

हाथ की चक्कियां पूरे इंग्लैंड में अपनी विनम्र सेवा लम्बे समय तक देती रहीं। समय-समय पर उनको लेकर हुए संघर्षों के ज़िक्र हमें मिलते हैं।

संक्षेप में जब लोहे और कोयले का ज़माना आया तब भी प्राचीन औज़ारों की जगह पानी और हवा से चलित मशीनों ने पूरी तरह नहीं ली थी। अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि 19वीं सदी तो क्या, आज भी आयरलैंड, स्कॉटलैंड, शेटलैंड, नॉर्वे, पूर्वी प्रशा, पूर्वी यूरोप आदि में हाथ की चक्कियां उपयोग में हैं।

लेकिन इन अपवादों के कारण हमें गुमराह नहीं होना चाहिए। जब भाप का इंजिन हाथ की चक्की और सिलबट्टे को पूरी तरह परास्त करने आया, तब तक पश्चिम में खाया जाने वाला ज़्यादातर आटा कई सदियों से पनचक्की या पवन-चक्कियों में पिस रहा था। निश्चय ही अगर किसानों को उनके हाल पर छोड़ दिया जाए तो पुराने तरीकों को वे फिर भी नहीं त्यागते। सामन्त भूस्वामियों ने जो पनचक्कियों के मालिक थे, उन

चक्कियों पर ऊंचे शुल्क लगाकर न चाहते हुए भी रूढ़िवाद को बढ़ावा दिया, लेकिन उन्होंने अंत में बलपूर्वक रूढ़ि को तोड़ा। कई मायनों में ये सामन्ती उपक्रम आजकल के बड़े व्यावसायिक उपक्रमों के समान हैं। शुरू में उन्होंने श्रम-शक्ति के अभाव से पीड़ित होकर इस महत्वपूर्ण तकनीकी सुधार को बढ़ावा दिया, फिर उन्होंने कठोरता के साथ इस व्यवस्था को अपने चारों ओर थोपा। इस प्रकार तकनीकी विकास दो रुकावटों से जूझते रहने का, निश्चय ही यह एक उल्लेखनीय उदाहरण नहीं है।

मार्क ब्लॉक: मार्क ब्लॉक उन आधुनिक इतिहास लेखकों में से हैं जिन्होंने सामाजिक इतिहास में किन मुद्दों पर अध्ययन करना चाहिए, तथा उन अध्ययनों के तौर तरीके व मापदण्ड क्या हों, जैसे विषयों पर काफी काम किया है। उन्होंने इतिहास लेखन के लिए 'अनाल्स्' नामक पत्रिका की शुरुआत की। मार्क ब्लॉक ने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान गांव-गांव में लोगों को नाज़ीवाद के खिलाफ संगठित किया था। 1944 में वे पकड़े गए और उन्हें मार डाला गया।

मूल लेख: फ्रांसीसी में। जो पाठक इस लेख का अंग्रेज़ी अनुवाद पढ़ने में रुचि रखते हैं वे *A Maurice Aymard & Harbans Mukhia*, **French Studies in History, Vol. 1**, Orient Longman, Delhi 1988, pp 215-242 देख सकते हैं। इस अंग्रेज़ी लेख के आधार पर हिन्दी रूपांतरण किया गया है।

हिन्दी रूपांतरण: सी. एन. सुब्रह्मण्यम। एकलव्य के सामाजिक अध्ययन शिक्षण कार्यक्रम से जुड़े हैं।

पनचक्की भारत में

भारत में भी पनचक्कियों का इस्तेमाल सैकड़ों सालों से होता आ रहा है। आज भी यहां के पहाड़ी राज्यों हिमाचल प्रदेश व उत्तरांचल में इनका उपयोग बड़े पैमाने पर होता है। ये इन पहाड़ी प्रदेशों के दूर-दराज़ इलाकों में स्थित गांवों के लोगों के न केवल गेहूं पीसने व धान कूटने के काम आती हैं बल्कि अब तो बिजली भी प्रदान कर रही हैं।

पहाड़ी इलाकों में साल भर तेज़ गति से बहने वाले कई नदी-नाले व झरने होते हैं। पानी के इन स्रोतों में से एक धारा को अलग दिशा

देकर चक्की तक लाया जाता है जो अपनी गति से टरबाईन (पंखों) को घुमाने का काम करती है। जब भी किसी व्यक्ति को गेहूं आदि पीसना होता है तो वह पानी की धारा को चक्की की तरफ मोड़ देता है और चक्की चलने लगती है। अपना काम खत्म करके वह व्यक्ति फिर से धारा को पूर्ववत कर देता है।

ज़्यादातर इन चक्कियों की मिल्कियत पंचायत या इन्हें इस्तेमाल करने वाले गांवों के सभी लोगों की होती है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से व्यक्तिगत चक्कियां भी शुरू हो गई हैं जिनका व्यवसायिक इस्तेमाल होता है। व्यवसायिक तौर पर चलाई जाने वाली चक्कियों में न केवल गेहूं पीसने का काम होता है बल्कि धान से चावल निकालने, तेल निकालने व बिजली का उत्पादन भी किया जाता है।

हिमाचल प्रदेश के अलग-अलग इलाकों के कई छोटे-बड़े राजाओं ने इन पनचक्कियों के निर्माण को प्रोत्साहित किया था। इन्हीं राजाओं में से एक जुब्बल राज्य के राजाओं ने उत्तरांचल के गढ़वाल क्षेत्र में भी पनचक्कियों का निर्माण करवाया था। इन पनचक्कियों पर कर लगाकर ये राजा अच्छी-खासी आमदनी प्राप्त करते थे। अंग्रेज़ी सरकार ने भी अपने इलाके की पनचक्कियों पर कर लगाया था जो आज भी लागू है।

आज उत्तरांचल के केवल गढ़वाल क्षेत्र में करीब 70,000 पनचक्कियां हैं। यहां इन्हें 'घरात' कहा जाता है। पिछले कुछ सालों से कई गैर-सरकारी संगठन इन 'घरातों' के व्यवसायिक इस्तेमाल में लोगों का सहयोग करने लगे हैं। ये मुख्य रूप से पनचक्कियों की बिजली उत्पादन की क्षमता को विकसित करने की कोशिश कर रहे हैं। एक पनचक्की अगर ढंग से काम करे तो करीब 5 किलोवाट तक बिजली का उत्पादन करती है और आज कई गांवों में तो 'घरात' मालिक पूरे गांव को 10 रुपए प्रति बल्ब प्रति माह की दर से बिजली सप्लाई भी कर रहे हैं। इस तरह की बिजली का सबसे बड़ा फायदा है कि सरकारी बिजली की तरह यह कभी गुल नहीं होती।

— गौतम पांडेय

गौतम पांडेय: एकलव्य के सामाजिक अध्ययन शिक्षण कार्यक्रम से जुड़े हैं।

कहानी

अन्तरंग राक्षस

मनोज दास

वो सो रही थी... मेरी नन्हीं-सी परी, मुझसे यह वादा लेकर कि उसके लिए एक छोटा, असली का बन्दर जल्द-से-जल्द लेना होगा, क्योंकि वो पहली बार अपनी मां के बिना घर से शहर आई थी। मुझे याद आया कि मेरे बंगले पर चौकीदार ने उस जाति का एक शांत प्राणी पाला है, तो मैंने उसकी शर्त मान ली। मां के बिना एक हफ्ता रहने के लिए उसने जो मुआवज़ा मांगा वो जायज़ ही लगा।

रेलगाड़ी के डिब्बे के एकांत में

नीले बल्ब से आ रही फीकी-सी रोशनी और बीच-बीच में खिड़की से बहकर अंदर आ रही चांदनी, मेरी सोई हुई बिटिया के इर्द-गिर्द परियों के देश का सा आसमानी जादू बिखेर रही थी। मैं उसे देखता रहा, फिर चांद की ओर देखा। मुझे सपना देखने की भी ज़रूरत नहीं थी क्योंकि सपनों ने खुद मुझे चहुं ओर से घेर लिया था। मैं ऊपर की बर्थ पर जाकर सो सकता था, पर गया नहीं, बल्कि इस डर का लुत्फ उठाया कि वो सीट से नीचे गिर सकती है और इसलिए मेरा उसके पास बैठना ज़रूरी है।

गाड़ी, एक के बाद एक, मुफ़स्सल स्टेशनों से गुज़र रही थी, एकाध सवारी को समेटते हुए, गड़गड़ाहट के शोर को बीच-बीच में गांव की चहल-पहल से तोड़ते हुए।

इस तरह गर्मी की इस रात की ये घड़ियां इसी लय में गुज़रती रहीं। फिर हम एक ऐसे स्टेशन पर पहुंचे जिसे स्टेशन कहना ही बहुत वाजिब नहीं होगा। स्टेशन मास्टर के कमरे पर भी छत नहीं के बराबर थी। वेटिंग रूम के नाम पर टीन के एक छप्पर के पास खूब सारे घने पेड़ थे। पर आप मानेंगे नहीं कि पलक झपकते ही इस जगह से इतने सारे लोग उमड़ आए और पलभर में गाड़ी में चढ़ने की धक्का-मुक्की में उन्होंने गाड़ी को हिलाकर रख दिया।

मेरे दरवाज़े पर भी मुक्कों की मार पड़ी। पर जल्द ही ट्रेन चल पड़ी और मुझे अभी भी आधी ट्रेन के बराबर भीड़ नज़रों से ओझल होती हुई दिख रही थी। बची हुई भीड़ जो इस विशालकाय दैत्य को गुम होते देख रही थी स्तब्ध थी, क्योंकि वो इसे

काबू नहीं कर पाई थी।

एक बार फिर मैंने अपनी बेटी के पास रखे सिरहाने को ठीक किया और ऊपर की बर्थ पर चढ़ने लगा। पर ट्रेन के मुड़ते ही खिड़की में से एक परछाई दिखी। ध्यान से देखने पर समझ में आया कि कांच के दूसरी ओर एक बड़ा-सा, दढ़ियल आदमी चुपचाप लटका हुआ था। मुझे गुस्सा आया और मैंने तय कर लिया कि वो जहां है वही जगह उसके लिए सही है। पर मुझे ऐसा आभास हुआ कि वो सो रहा था! उसे झपकी लेते देख मेरे मन में उसे लेकर जो थोड़ा-बहुत संदेह था, गायब हो गया। भला चोर इस तरह सो कैसे सकता है!

मैंने कांच की खिड़की खोली और उसे आवाज़ दी। खिले हुए चांद की तरह उसके चेहरे पर भी एक मुस्कान खिल आई। "मैं बहुत मामूली आदमी हूं, हुज़ूर", उसने कहा। "आप वाकई बहादुर हैं जनाब, जो ऐसे लटक कर सफर कर रहे हैं और लटकते हुए सो भी पा रहे हैं", मैंने उत्तर दिया, दरवाज़ा खोला और उसे अंदर बुलाया।

शिष्टाचार-वश थोड़ा झिझकने के बाद वह अंदर आया और नीचे बैठ गया। उसने बताया कि किसी बड़े त्यौहार के कारण पिछले स्टेशन पर इतनी भीड़ थी। जो लोग इस त्यौहार में शामिल होने नदी पार करके गए थे, उन्हें वापस लौटते वक्त नदी में पूर आ जाने के कारण नाव से न जाकर, रेल से सफर करना पड़ रहा था।

"यह फर्स्ट क्लास है। आपके पास तो थर्ड क्लास का टिकट होगा, न? पर आपकी मंज़िल आने तक आप यहां बैठ सकते हैं", मैंने अनुकंपा दिखाते हुए कहा।

इस पर उस अजनबी ने बताया कि वो तो एक घुमक्कड़ है जो अपने कुल जमा सामान की पोटली साथ में लिए जगह-जगह भटकता रहता है – उसके पास न तो टिकट थी, न ही उसकी कोई मंज़िल।

मैंने सोने का ख्याल छोड़ दिया, पर गाड़ी की आवाज़ की एकरस नीरसता और हिचकोलों ने मुझे कुछ देर के लिए सुला दिया।

एक तेज़ आवाज़ ने मेरी नींद में खलल डाली। मैं हकबका कर बैठ गया और शोर का स्रोत खोजने लगा। मेरी बेटी अभी भी सो रही थी। शोर की वजह वही बूढ़ा आदमी था। वह बांसुरी बजा रहा था।

बांसुरी बजाकर वो कोई शैतानी नहीं कर रहा था, पर पता नहीं क्यों मुझे बहुत गुस्सा आया। उस समय वो दुष्टता और कृतघ्नता की प्रतिमा लग रहा था। मैं जानता था कि उस आवाज़ से परेशान नहीं होना चाहिए। लेकिन कई घंटों की मेहनत के बाद मेरी बेटी सोई थी, यह बात उस आदमी के

लिए बेमानी है, यह सोच कर मैं ज़ोर से चिल्लाया, "बंद करो।"

उसने मुझे हैरानगी से देखा, और बिना कुछ कहे, बांसुरी को अपने पुराने से झोले में डालकर खड़ा होने लगा। उस वक्त ट्रेन एक और स्टेशन पर रुकी हुई थी। उसने दरवाज़ा खोला, चुपचाप मुझे सलाम किया और नीचे उतर गया।

मैं दरवाज़ा बंद करके मुड़ा, तो मुझे यह देखकर दुख हुआ कि मेरी बेटी उठ गई थी और बैठने की कोशिश कर रही थी। मैंने लाइट जलाई।

"क्यों उठ गया मेरा बेटा?", मैंने हल्के से पूछा। पहले तो वह चुप रही फिर जैसे ही मैं उसके पास बैठा, मुझे पकड़कर कहने लगी, "पापा, मैं बहुत अच्छा सपना देख रही थी।"

"यह तो अच्छी बात है। क्या देखा सपने में?"

अब उसके आंसू टपकने लगे, "मैं एक बहुत सुन्दर बगीचे में घूम रही थी। उसमें खूब सारे फूल और परियां थीं। और उन सबके बीच एक बहुत अच्छा बच्चा था। उसने मुझे बांसुरी बजाकर सुनाई। पर फिर, पता है..."

उसके मुंह से बोल नहीं निकल रहे थे। मैंने उसके आंसू पोंछे। "फिर क्या हुआ?" मैंने पूछा।

"फिर कोई एकदम से उस पर बरस पड़ा और चिल्लाया। एक बड़ा-सा, गंदा-सा राक्षस था। उसने बांसुरी बंद कर दी। चारों तरफ गहरे बादल छा गए। फिर क्या हुआ, मुझे नहीं पता।" मेरी बेटी ने बताया।

मैंने खिड़की से बाहर देखा। सोए हुए खेत-खलिहान चांदनी से ढके थे। पर मैं एक अंधेरे, एक राक्षस को महसूस कर रहा — शायद अंदर कहीं।

मनोज दास — उड़िया भाषा के जाने माने कथाकार हैं। साथ ही अंग्रेज़ी में भी लिखते हैं।
अनुवाद — शिवानी बजाज। शिवानी दिल्ली में रहती हैं और बच्चों की शिक्षा पर काम कर रही हैं।
समस्त चित्रः मनोज कुलकर्णी। ललित कलाओं में गहरी रुचि रखते हैं। भोपाल में निवास।

एक विशेष सूचना

संदर्भ का यह अंक संयुक्तांक है। लेकिन इसे एक अंक के बराबर ही माना जा रहा है इसलिए हमारे वार्षिक सदस्यों को पूरे अंक मिलेंगे यानी यदि आपकी सदस्यता 44वें अंक में खत्म होने वाली है तो सदस्यता 44वें अंक तक बरकरार रहेगी।

ऐलीफेंट हॉक मॉथ: यह मेक्रोग्लोसा जीनस का एक प्रमुख प्रतिनिधि है जिसमें प्रोबोसिस अच्छा-खासा विकसित होता है। यह सूंड फूलों से मकरंद चूसने में मदद करती है। हॉक पतिंगों की यह खासियत है कि ये उड़ते-उड़ते ही फूलों का मकरंद ूसते हैं, फूलों पर बैठते नहीं। हॉक पतिंगे को फूल पर मंडराते देखकर हमिंग बर्ड ी याद ताज़ा हो जाती है।
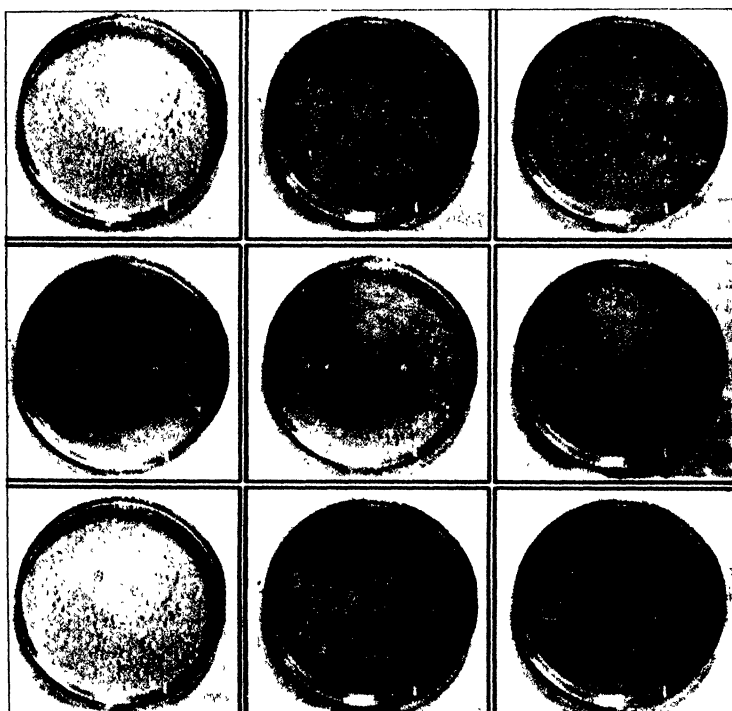
एकलव्य की ओर से राजेश खिंदरी द्वारा भंडारी ऑफसेट प्रिंटर्स, ई-3/12, अरेरा कॉलोनी भोपाल से मुद्रित एवं एकलव्य ई-7/ एच. आइ. जी. 453 अरेरा कॉलोनी, भोपाल 462016 से प्रकाशित।
संपादक-राजेश खिंदरी